विवेक-ज्योति

वर्ष ४३ अंक ४ अप्रैल २००५ मूल्य रु.६.००

रामकृष्ण मिशन
विवेकानन्द आश्रम
रायपुर (छ.ग.)

JUST RELEASED

VOLUME II
of
Sri Sri Ramakrishna Kathamrita

in English

A verbatim translation of the second volume of original Bengali edition. Available as hardbound copy at *Rs. 150.00 each* (plus postage Rs. 30.00). Available online at: *www.kathamrita.org*

HINDI SECTION

- **Sri Sri Ramakrishna Kathamrita** — Vol. I to V — Rs. 300 per set (plus postage Rs. 50)

M. (Mahendra Nath Gupta), a son of the Lord and disciple, elaborated his diaries in five parts of 'Sri Sri Ramakrishna Kathamrita' in Bengali that were first published by Kathamrita Bhawan, Calcutta in the years 1902, 1905, 1908, 1910 and 1932 respectively. This series is a verbatim translation in Hindi of the same.

- **Sri Ma Darshan** — Vol. I to XVI — Rs. 825 per set (plus postage Rs. 115)

In this series of sixteen volumes Swami Nityatmananda brings the reader in close touch with the life and teachings of the Ramakrishna family: Thakur, the Holy Mother, Swami Vivekananda, M., Swami Shivananda, Swami Abhedananda and others. The series brings forth elucidation of the Upanishads, the Gita, the Bible, the Holy Quran and other scriptures, by M., in accordance with Sri Ramakrishna's line of thought. **This work is a commentary on the Gospel of Sri Ramakrishna by Gospel's author himself.**

ENGLISH SECTION

Title	Volumes	Price
Sri Sri Ramakrishna Kathamrita	Vol. I & II	Rs. 300.00 for both (postage Rs. 50)
M., the Apostle & the Evangelist (English version of Sri Ma Darshan)	Vol. I to X	Rs. 900.00 per set (plus postage Rs. 100)
Sri Sri RK Kathamrita Centenary Memorial		Rs. 100.00 (plus postage Rs. 35)
Life of M. and Sri Sri Ramakrishna Kathamrita		Rs. 150.00 (plus postage Rs. 35)
A Short Life of M.		Rs. 50.00 (plus postage Rs. 20)

BENGALI SECTION

- **Sri Ma Darshan** — Vol. I to XVI — Rs. 650 per set (plus postage Rs. 115)

All enquiries and payments should be made to:

SRI MA TRUST
579, Sector 18-B, Chandigarh – 160 018 India
Phone: 91-172-272 44 60
email: SriMaTrust@yahoo.com

॥ आत्मनो मोक्षार्थं जगद्धिताय च ॥

विवेक-ज्योति

श्रीरामकृष्ण-विवेकानन्द भावधारा से अनुप्राणित

हिन्दी मासिक

अप्रैल २००५

प्रबन्ध-सम्पादक

स्वामी सत्यरूपानन्द

सम्पादक

स्वामी विदेहात्मानन्द

वर्ष ४३
अंक ४

वार्षिक ५०/- एक प्रति ६/-

५ वर्षों के लिए — रु. २२५/-

आजीवन (२५ वर्षों के लिए) — रु. १,०००/-

विदेशों में – वार्षिक १५ डॉलर, आजीवन – २०० डॉलर (हवाई डाक से) १०० डॉलर (समुद्री डाक से)

(सदस्यता-शुल्क की राशि का बैंक-ड्राफ्ट - 'रामकृष्ण मिशन, रायपुर' छत्तीसगढ़ - के नाम से ही बनवायें)

रामकृष्ण मिशन
विवेकानन्द आश्रम
रायपुर – ४९२ ००१ (छ.ग.)

दूरभाष : २२२५२६९, ५०३६९५९, २२२४११९
(समय : ८.३० से ११.३० और ३ से ६ बजे तक)

अनुक्रमणिका

१. वैराग्य-शतकम् (भर्तृहरि) १५३
२. रामकृष्ण-वन्दना ('विदेह') १५४
३. शिक्षा का आदर्श - ४ (उद्देश्य १ : चरित्र-गठन) (स्वामी विवेकानन्द) १५५
४. भरत-जन्म का उद्देश्य (२/२) (पं. रामकिंकर उपाध्याय) १५९
५. चिन्तन-११० (चरित्र-निर्माण के उपाय) (स्वामी आत्मानन्द) १६४
६. श्रीरामकृष्ण की बोध-कथाएँ १६५
७. आप भी महान् बन सकते हैं (४) (स्वामी सत्यरूपानन्द) १६७
८. आत्माराम की आत्मकथा (१३) १६९
९. मानव-वाटिका के सुरभित पुष्प (डॉ. शरत् चन्द्र पेंढारकर) १७३
१०. श्रीरामकृष्ण-स्तुति (कविता) (स्वामी विवेकानन्द) १७४
११. हिन्दू-धर्म की रूपरेखा (१०) भक्तियोग (स्वामी निर्वेदानन्द) १७६
१२. जीवन-लक्ष्य (कविता) (डॉ. त्रिलोकी सिंह) १७८
१३. स्वामी विवेकानन्द के संस्मरण (स्वामी विज्ञानानन्द) १७९
१४. माँ की मधुर स्मृतियाँ - १७ माँ की कृपा (स्वामी अशेषानन्द) १८३
१५. गीता का जीवन-दर्शन (४) दैवी सम्पदाएँ (२) चित्तशुद्धि (भैरवदत्त उपाध्याय) १८७
१६. मेरे उर की व्यथा हरो (कविता) (जितेन्द्र तिवारी) १८८
१७. स्वामी विवेकानन्द का राजस्थान-प्रवास (४) (स्वामी विदेहात्मानन्द) १८९
१८. भारतीयता : एक जीवन-दर्शन (स्वामी आत्मानन्द) १९२
१९. समाचार और सूचनाएँ (नागपुर) १९४

मुद्रक : संयोग आफ्सेट प्रा. लि., बजरंगनगर, रायपुर (फोन : २५४६६०३)

लेखकों से निवेदन

पत्रिका के लिये रचना भेजते समय निम्न बातों पर ध्यान दें —

(१) धर्म, दर्शन, शिक्षा, संस्कृति तथा किसी भी जीवनोपयोगी विषय पर रचना को 'विवेक-ज्योति' में स्थान दिया जाता है।

(२) रचना बहुत लम्बी न हो। ऐसी हो कि पत्रिका के दो या अधिक-से-अधिक चार पृष्ठों में आ जाय। पाण्डुलिपि फूलस्केप रूल्ड कागज पर दोनों ओर यथेष्ट हाशिया छोड़कर सुन्दर हस्तलेख में लिखी या टाइप की हुई हो।

(३) लेख में आये उद्धरणों के सन्दर्भ का पूरा विवरण दिया जाय।

(४) आपकी रचना डाक में खो भी सकती है, अतः उसकी एक प्रतिलिपि अपने पास अवश्य रखें। अस्वीकृति की अवस्था में वापसी के लिए अपना पता लिखा हुआ एक लिफाफा भी भेजें।

(५) 'विवेक-ज्योति' में प्रकाशनार्थ कविताएँ इतनी सख्या में आती हैं कि उनका प्राप्ति-संवाद देना सम्भव नहीं होता। स्वीकृत होने पर भी उसके प्रकाशन में ६-८ महीने तक लग सकते हैं।

(६) अनुवादित रचनाओं के मूल स्रोत का पूरा विवरण दिया जाय तथा उसकी एक प्रतिलिपि भी संलग्न की जाय।

(७) 'विवेक-ज्योति' में प्रकाशित लेखों में व्यक्त मतों की पूरी जिम्मेदारी लेखक की होगी और स्वीकृत रचना में सम्पादक को यथोचित संशोधन करने का पूरा अधिकार होगा।

(८) 'विवेक-ज्योति' के लिये भेजी जा रही रचना यदि इसके पूर्व कहीं अन्यत्र प्रकाशित हो चुकी हो या प्रकाशनार्थ भेजी जा रही हो, तो उसका भी उल्लेख अवश्य करें। वैसे इसमें मौलिक तथा अप्रकाशित रचनाओं को ही प्राथमिकता दी जाती है।

सदस्यता के नियम

(१) पत्रिका के नये सदस्य किसी भी माह से बनाये जाते हैं। यदि किसी पिछले अंक से बनना हो, तो सूचित करें।

(२) अपना नाम तथा पिनकोड सहित पूरा पता स्पष्ट रूप से लिखें। नये सदस्य हों, तो लिखें — 'नया सदस्य'।

(३) पत्रिका को निरन्तर चालू रखने हेतु अपनी सदस्यता की अवधि पूरी होने के पूर्व ही नवीनीकरण करा लें।

(४) पत्रिका न मिलने की शिकायत माह पूरा होने पर ही करें। उसके बाद अंक रहने पर ही पुनः प्रेषित किया जायेगा।

(५) अंक सुरक्षित पाने हेतु प्रति अंक ५/- रुपये अतिरिक्त खर्च कर इसे वी.पी. पोस्ट से मँगाया जा सकता है। यह राशि प्रति माह अंक लेते समय पोस्टमैन को देनी होगी, अतः इसे हमें न भेजें।

(६) सदस्यता-शुल्क की राशि का बैंक-ड्राफ्ट 'रामकृष्ण मिशन' (रायपुर, छत्तीसगढ़) के नाम से ही बनवायें।

(७) सदस्यता, एजेंसी, विज्ञापन या अन्य विषयों की जानकारी के लिये 'व्यवस्थापक, विवेक-ज्योति कार्यालय' को लिखें।

वर्ष ४३ अप्रैल २००५ अंक ४

वैराग्य-शतकम्

फलं स्वेच्छालभ्यं प्रतिवनमखेदं क्षितिरुहां
पयः स्थाने स्थाने शिशिरमधुरं पुण्यसरिताम्।
मृदुस्पर्शा शय्या सुललितलतापल्लवमयी
सहन्ते संतापं तदपि धनिनां द्वारि कृपणाः।।२७।।

अन्वय – प्रति-वनम् अखेदं स्व-इच्छा-लभ्यं क्षितिरुहां फलं, स्थाने स्थाने पुण्य-सरिताम् शिशिर-मधुरं पयः, सुललित-लता-पल्लव-मयी मृदु-स्पर्शा शय्या, तदपि कृपणाः धनिनां द्वारि सन्तापं सहन्ते ।।

भावार्थ – जब खाने को प्रत्येक वन के वृक्षों पर सहज एवं स्वेच्छया प्राप्य फल विद्यमान हैं, जब पीने के लिए जगह-जगह नदियों का शीतल व मधुर जल प्रवाहित हो रहा है, जब सोने को सर्वत्र सुन्दर लता-पल्लवों की कोमल शय्या सुलभ है, तो भी कितने आश्चर्य की बात है कि लोभी मनुष्य धनिकों के द्वार पर उपस्थित होकर कितने ही तरह के अपमान तथा कष्ट सहन करते रहते हैं।

ये वर्तन्ते धनपति-पुरः प्रार्थना-दुःख-भाजो
ये चाल्पत्वं दधति विषयाक्षेप-पर्याप्त-बुद्धेः।
तेषामन्तःस्फुरित-हसितं वासराणि स्मरेयं
ध्यानच्छेदे शिखरि-कुहरग्रावशय्या-निषण्णः।।२८।।

अन्वय – ध्यानच्छेदे शिखरि-कुहर-ग्राव-शय्या-निषण्णः अन्तः-स्फुरित-हसितं तेषाम् वासराणि स्मरेयम्, ये धनपति-पुरः प्रार्थना-दुःख-भाजो वर्तन्ते च ये विषय-आक्षेप-पर्याप्त-बुद्धेः अल्पत्वं दधति ।

भावार्थ – बीच-बीच में ध्यान टूटने पर, पर्वत की गुफा में पाषाण की शय्या पर विश्राम करते हुए, अन्तःकरण में सहज भाव से स्फुरित होनेवाली हँसी के साथ, मैं उन लोगों के दिनों की याद करता हूँ, जो धनवानों के द्वार पर याचना के दुःख से पीड़ित हो रहे हैं और जिनकी बुद्धि भोगों की प्राप्ति के लिये हीनता को स्वीकार कर रही है।

– भर्तृहरि

रामकृष्ण-वन्दना

(वागेश्री या भैरवी – झपताल . तर्ज – तू दयालु दीन हौ)

हे प्रभो, श्रीरामकृष्ण, तुम जगत् के सार हो ।
सिर्फ मेरे ही नहीं, सबके परम आधार हो ।। १।। हे प्रभो.।।

ब्रह्म कहते हैं तुम्हें ही, उपनिषद्-वेदान्त में,
शक्ति-सह लीला तुम्हीं करते उतर भू-प्रान्त में;
कर सृजन ब्रह्माण्ड का, पालन-विसर्जन-हार हो ।। २।। हे प्रभो.।।

शक्तियाँ जब भी बढ़ी हैं, इस धरा पर आसुरी,
जन्म तब-तब ले तुम्हीं ने, धर्म की रक्षा करी;
सत्य-संस्थापन निमित फिर, आ गये अवतार हो ।। ३।। हे प्रभो.।।

चित्त मेरा था लगा नित, काम-कांचन आस में,
ज्ञात मुझको था नहीं, है 'रत्न' अपने पास में;
तुम विराजित हृदि-कमल पर,
तत्त्व अपरम्पार हो ।। ४।। हे प्रभो.।।

फिर रहा था मैं बिचारा, भटकता संसार में,
मोह-माया डोर से था, बद्ध भोग-विकार में;
तुम कृपा कर दो, जरा-सा,
ज्ञान का संचार हो ।। ५।। हे प्रभो.।।

निर्दिशा भवसिन्धु में है, नाव मेरी तिर रही,
संकटों की मेघमाला, भाग्य-नभ में घिर रही;
थाम लो पतवार तुम तो,
शीघ्र बेड़ा-पार हो ।। ६।। हे प्रभो.।।

कर सभी उद्यम विफल हो, अब शरण मैं आ गया,
रूप-गुण चिन्मय तुम्हारा, चित्त मेरे भा गया;
आज आया द्वार तव,
हर ओर से लाचार हो ।। ७।। हे प्रभो.।।

पा अहैतुक तव कृपा, अगणित तरे पापी-पतित
और मैं भी हूँ तपस्-वैराग्य-श्रद्धा से रहित;
दृष्टि हो करुणामयी तो,
मम विदेहोद्धार हो ।। ८।। हे प्रभो.।।

— *विदेह*

उद्देश्य : (१) चरित्र-गठन

स्वामी विवेकानन्द

(शिक्षा विषय पर अनेक मूल्यवान विचार स्वामीजी के सम्पूर्ण साहित्य में यत्र-तत्र बिखरे पड़े हैं। उन्हीं का बँगला भाषा में एक संकलन 'शिक्षा-प्रसंग' नाम से प्रकाशित हुआ है, जो कई दृष्टियों से बड़ा उपयोगी प्रतीत होता है। शिक्षकों तथा छात्रों – दोनों को ही उससे उक्त विषय में काफी नयी जानकारी मिल सकती है, यहाँ पर हम 'शिक्षा का आदर्श' शीर्षक के साथ क्रमशः उसी का प्रकाशन कर रहे हैं। – सं.)

परमात्मा ही अशेष ज्ञान तथा अनन्त शक्ति का मूल है और हर प्राणी के अन्तर में मानो सोया हुआ है, उस परमात्मा को जाग्रत करना ही सच्ची शिक्षा का उद्देश्य है।[७५]

संस्कारों की समष्टि ही चरित्र है – सुख-दुख उसके उपादान हैं

मानव जाति का चरम लक्ष्य है – ज्ञान की प्राप्ति। भारतीय दर्शन हमारे सम्मुख एकमात्र यही लक्ष्य रखता है। **मनुष्य का अन्तिम लक्ष्य सुख नहीं, अपितु ज्ञान है। सुख और आनन्द नश्वर हैं**, अतः सुख को ही चरम लक्ष्य मान लेना भूल है। संसार में सब दुखों का मूल यही है कि मनुष्य मूर्खतावश सुख को ही अपना लक्ष्य समझ बैठता है, परन्तु कुछ काल बाद ही उसे बोध होता है कि जिसकी ओर वह जा रहा है, वह सुख नहीं, बल्कि ज्ञान है। **सुख तथा दुख दोनों ही महान् शिक्षक हैं** और जितनी शिक्षा उसे शुभ से मिलती है, उतनी ही अशुभ से भी। सुख और दुख मन के सामने से होकर जाते समय उसके ऊपर अनेक प्रकार के चित्र अंकित कर जाते हैं। और इन चित्रों या संस्कारों की समष्टि के फल को ही हम व्यक्ति का 'चरित्र' कहते हैं। यदि तुम किसी मनुष्य के चरित्र का निरीक्षण करो, तो ज्ञात होगा कि वस्तुतः वह उसकी मानसिक प्रवृत्तियों – मानसिक झुकावों की समष्टि मात्र है। तुम यह भी देखोगे कि उसके **चरित्र-गठन में सुख और दुख दोनों ही समान रूप से उपादान-स्वरूप हैं**। चरित्र को एक विशिष्ट साँचे में ढालने में शुभ और अशुभ, दोनों का समान अंश रहता है और **कभी-कभी तो दुख ही सुख से भी बड़ा शिक्षक सिद्ध होता है**। यदि हम संसार के महापुरुषों के चरित्र का अध्ययन करें, तो अधिकांश मामलों में हम यही देखेंगे कि सुख की अपेक्षा दुख ने तथा सम्पत्ति की अपेक्षा दारिद्र्य ने ही उन्हें अधिक शिक्षा दी है और प्रशंसा की अपेक्षा आघातों ने ही उनकी अन्तःस्थ अग्नि को अधिक प्रस्फुरित किया है।[७६] **यदि हम शान्त होकर स्वयं का अध्ययन करें, तो प्रतीत होगा कि हमारा हँसना-रोना, सुख-दुख, हर्ष-विषाद, हमारी शुभ-कामनाएँ तथा अभिशाप, स्तुति व निन्दा – ये सभी हमारे मन के ऊपर विभिन्न घात-प्रतिघातों के फलस्वरूप उत्पन्न हुए हैं।** और आज हम जो कुछ हैं, इसी के फल से हैं।[७७] **यदि तुम सचमुच किसी व्यक्ति के चरित्र की जाँच करना चाहते हो, तो उसके बड़े कार्यों से उसकी जाँच मत करो।** हर मूर्ख किसी विशेष अवसर पर बहादुर बन सकता है। मनुष्य के अत्यन्त साधारण कार्यों की जाँच करो और असल में वे ही ऐसी बातें हैं, जिनसे तुम्हें एक महान् व्यक्ति का वास्तविक चरित्र ज्ञात हो सकता है। आकस्मिक अवसर तो छोटे-से-छोटे व्यक्ति को भी किसी-न-किसी प्रकार का बड़प्पन दे देते हैं। परन्तु वास्तव में **महान् तो वही है, जिसका चरित्र सर्वदा और सभी अवस्थाओं में महान् तथा एकसम रहता है।** मनुष्य जिन शक्तियों के सम्पर्क में आता है, उन सबमें जिस कर्म के द्वारा उसका चरित्र गठित होता है, वह कर्म-शक्ति ही सबसे प्रबल होती है।[७८]
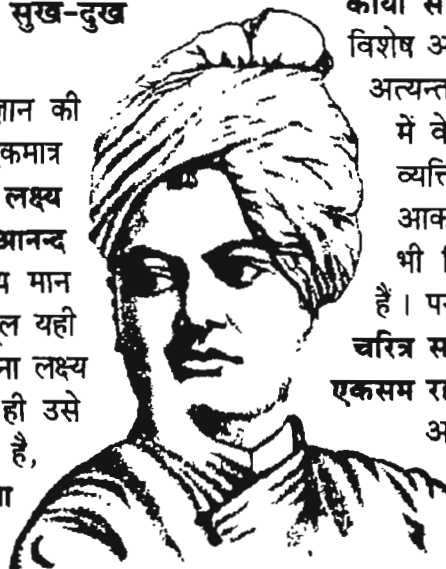
इच्छा ही सर्व-शक्तिमयी है

संसार में हम जो भी कार्य-कलाप देखते हैं, मानव-समाज में जो भी गति हो रही है, हमारे चारों ओर जो कुछ हो रहा है, वह सब मन की ही अभिव्यक्ति है – मनुष्य की इच्छा-शक्ति का ही प्रकाश है। कल-पुर्जे, नगर, जहाज, युद्धपोत आदि सभी मनुष्य की इच्छा-शक्ति के विकास मात्र हैं। **मनुष्य की यह इच्छा-शक्ति चरित्र से उत्पन्न होती है और चरित्र कर्मों से गठित होता है।** अतः जैसा कर्म होता है, वैसी ही इच्छा-शक्ति की अभिव्यक्ति भी होती है।[७९] हमारा शरीर मानो एक लौह-पिण्ड है और हमारा हर विचार मानो धीरे-धीरे उस पर हथौड़ी की चोट मारना है – उसके द्वारा हम अपनी इच्छानुसार अपने शरीर का गठन करते हैं।[८०] **अभी हम जो कुछ हैं, वह सब अपने चिन्तन का ही फल है।** इसलिए तुम क्या चिन्तन करते हो, इस विषय में विशेष सावधान रहो। शब्द तो गौण वस्तु है। **चिन्तन ही बहुकाल-स्थायी है और उसकी गति भी बहु-दूरव्यापी है।** हम जो कुछ चिन्तन करते हैं, उसमें हमारे चरित्र की छाप लग जाती है; इसी कारण साधु पुरुषों की हँसी या डाँट-फटकार में भी उनके हृदय का प्रेम और पवित्रता रहती है और उससे हमारा कल्याण ही होता है।[८१]

जिन्हें हम भूलें या बुराइयाँ कहते हैं, उन्हें हम दुर्बल होने के कारण करते हैं और दुर्बल हम अज्ञानी होने के कारण हैं। **मैं 'पाप' शब्द के बजाय 'भूल' शब्द का प्रयोग अधिक उपयुक्त समझता हूँ।** पाप शब्द यद्यपि मूलत: एक बड़ा अच्छा शब्द था, किन्तु अब उसमें जो भाव आ गया है, उससे मुझे भय लगता है। हमें किसने अज्ञानी बनाया है? – स्वयं हमने। हम स्वयं ही अपनी आँखों पर हाथ रखकर – "अँधेरा ! अँधेरा !" – चिल्लाते हैं। हाथ हटा लो, तो प्रकाश हो जायेगा; तुम देखोगे कि मानव की प्रकाश-स्वरूप आत्मा के रूप में प्रकाश सदा ही विद्यमान रहता है।

तुम्हारे आधुनिक वैज्ञानिकों के मतानुसार इस विकास का क्या कारण है? – कामना – इच्छा। पशु यदि कुछ करना चाहता है, तो अपने परिवेश को अनुकूल नहीं पाता, इसलिए वह एक नया शरीर धारण कर लेता है। तुम निम्नतम जीवाणु अमीबा से विकसित हुए हो। **अपनी इच्छा-शक्ति का प्रयोग करते रहो, और भी अधिक उन्नत हो जाओगे। इच्छा सर्व-शक्तिमान है।** तुम कहोगे यदि इच्छा सर्व-शक्तिमान है, तो मैं हर बात क्यों नहीं कर पाता? उत्तर यह है कि तुम जब ऐसी बातें कहते हो, उस समय केवल अपने क्षुद्र 'मैं' की ओर देखते हो। सोचकर देखो, तुम क्षुद्र जीवाणु से इतने बड़े मनुष्य हो गये। किसने तुम्हें मनुष्य बनाया? तुम्हारी अपनी इच्छाशक्ति ने ही। यह इच्छाशक्ति सर्व-शक्तिमान है – क्या तुम इसे अस्वीकार कर सकते हो? जिसने तुम्हें इतना उन्नत बनाया, वह तुम्हें और भी अधिक उन्नत कर सकती है। **तुम्हें जरूरत है बस चरित्र और इच्छा-शक्ति को सबल बनाने की।**[८२]

यदि मैं तुम्हें उपदेश दूँ कि तुम्हारा स्वभाव बुरा है और कहूँ कि तुमने कुछ भूलें की हैं, इसलिए अब तुम अपना सारा जीवन केवल पश्चाताप और रोने-धोने में ही बिताओ, तो इससे तुम्हारा कुछ भी भला न होगा, बल्कि इससे तो तुम और भी दुर्बल हो जाओगे। ... यदि हजार साल से इस कमरे में अँधेरा रहा हो और तुम कमरे में आकर 'हाय ! बड़ा अँधेरा है ! बड़ा अँधेरा है !' कहकर रोते रहो, तो क्या अँधेरा चला जायेगा? कभी नहीं। पर दियासलाई की एक तिली जलाते ही कमरा आलोकित हो उठेगा। अत: "मैंने बहुत दोष किये हैं, मैंने बहुत अन्याय किया है" – आजीवन ऐसा सोचने से क्या तुम्हारा कुछ भी उपकार हो सकेगा?

किसी को भी बताने की जरूरत नहीं कि हममें बहुत-से दोष हैं। **ज्ञानाग्नि प्रज्वलित करो और क्षण भर में ही सारी बुराई चली जायेगी।** अपने सच्चे स्वरूप को पहचानो, सच्चे 'मैं' को – उसी ज्योतिर्मय, उज्ज्वल, नित्य-शुद्ध 'मैं' को, प्रकट करो – प्रत्येक व्यक्ति में उसी आत्मा को जगाओ।[८३]

संस्कारों से ही चरित्र बनता है

यदि मन को तालाब मान लिया जाय, तो उसमें उठने वाली प्रत्येक लहर जब शान्त हो जाती है, तो भी वस्तुत: वह बिल्कुल नष्ट नहीं हो जाती, वरन् चित्त में एक प्रकार का चिह्न छोड़ जाती है और एक ऐसी सम्भावना का निर्माण कर जाती है, जिससे कि वह दुबारा उठ सके। इस चिह्न तथा इस लहर के पुन: उठने की सम्भावना को मिलाकर हम 'संस्कार' कह सकते हैं। हमारा प्रत्येक कार्य, हमारा प्रत्येक अंग-संचालन, हमारा हर विचार हमारे चित्त पर इसी प्रकार का एक संस्कार छोड़ जाता है; और यद्यपि ये संस्कार ऊपरी दृष्टि से स्पष्ट न हों, तथापि इतने प्रबल होते हैं कि ये अवचेतन मन में अज्ञात रूप से कार्य करते रहते हैं।[८४] यह चित्त सतत अपनी स्वाभाविक पवित्र अवस्था को पुन: प्राप्त करने की चेष्टा कर रहा है, परन्तु इन्द्रियाँ उसे बाहर खींचे रखती हैं।[८५] हम प्रतिक्षण जो होते हैं, वह इन संस्कारों द्वारा ही निर्धारित होता है। मैं इस मुहूर्त जो कुछ हूँ, वह मेरे पूर्व जीवन के समस्त संस्कारों का फल है। यथार्थत: इसी को 'चरित्र' कहते हैं और प्रत्येक मनुष्य का चरित्र इन संस्कारों की समष्टि द्वारा ही निर्धारित होता है। यदि भले संस्कारों का प्राबल्य रहा, तो मनुष्य का चरित्र भला होता है और यदि बुरे संस्कारों का, तो बुरा। यदि एक व्यक्ति निरन्तर बुरे शब्द सुनता रहे, बुरी बातें सोचता रहे, बुरे कर्म करता रहे, तो उसका मन भी बुरे संस्कारों से परिपूर्ण हो जायेगा और बिना उसके जाने ही वे संस्कार उसके समस्त विचारों तथा कार्यों को प्रभावित करते रहेंगे। ... इसी प्रकार यदि व्यक्ति अच्छे विचार रखे तथा सत्कर्म करे, तो उसके इन संस्कारों का प्रभाव भी अच्छा ही होगा और उसकी इच्छा न होते हुए भी वे उसे सत्कार्य में प्रेरित करेंगे। जब व्यक्ति इतने सत्कार्य तथा सच्चिन्तन कर चुकता है कि उसकी इच्छा न होते हुए भी उसमें सत्कार्य करने की एक अनिवार्य प्रवृत्ति उत्पन्न हो जाती है, तब यदि वह दुष्कर्म करना भी चाहे, तो इन संस्कारों की समष्टि रूप में उसका मन, उसे ऐसा करने ही नहीं देगा और ये संस्कार उसे उस मार्ग से वापस लौटा लायेंगे। तब वह अपने उन भले संस्कारों के हाथ की कठपुतली जैसा हो जायेगा। ऐसी स्थिति हो जाने पर ही कहा जा सकता है कि इस व्यक्ति का चरित्र गठित हुआ है।

जैसे कछुआ अपने सिर तथा पावों को अपनी खोल के भीतर समेट लेता है और तब हम चाहे उसे मार ही क्यों न डालें, उसके टुकड़े-टुकड़े ही क्यों न कर डालें, पर वह अपने सिर तथा पाँव बाहर नहीं निकलता; वैसे ही जिस व्यक्ति ने अपने मन व इन्द्रियों को वश में कर लिया है, उसका चरित्र सदैव स्थिर रहता है। ... निरन्तर सच्चिन्तन के

फलस्वरूप हमारे चेतन मन पर भले संस्कारों का बारम्बार आवर्तन होते रहने के कारण हममें सत्कार्य करने की प्रवृत्ति प्रबल रहती है और इसके फलस्वरूप हम इन्द्रियों को वश में लाने में समर्थ होते हैं। इसी प्रकार चरित्र गठित होता है और उसके बाद ही हम सत्य-लाभ के अधिकारी हो सकते हैं। इसी प्रकार का व्यक्ति सदा के लिए सुरक्षित होता है। फिर उसके द्वारा किसी भी प्रकार का अनुचित या बुरा कार्य हो ही नहीं सकता। उसको चाहे तुम किसी भी प्रकार के लोगों के साथ क्यों न रख दो, उसे कोई खतरा नहीं होता।[८६]

जो शिक्षा अभी तुम पा रहे हो, वह 'मनुष्य' बनानेवाली 'शिक्षा' नहीं कहला सकती। यह केवल गढ़ी हुई चीजों को तोड़ना ही जानती है। यह शिक्षा केवल और पूर्णत: निषेधात्मक है। निषेधात्मक शिक्षा या निषेध की बुनियाद पर आधारित शिक्षा मृत्यु से भी भयानक है।[८७] शिक्षा का अर्थ तुम्हारे दिमाग में ठूँसी हुई ऐसी जानकारियों का ढेर नहीं है, जो आजीवन अनपची रहकर गड़बड़ी पैदा करती रहें। जिस शिक्षा से हम अपना जीवन-निर्माण कर सकें, मनुष्य बन सकें, चरित्र-गठन कर सकें और विचारों का सामंजस्य कर सकें, वही वास्तव में शिक्षा कहलाने योग्य है।[८८] यदि तुम केवल पाँच ही विचारों को पचाकर तदनुसार जीवन और चरित्र गठित कर सके हो, तो तुम एक पूरे ग्रन्थालय को कण्ठस्थ कर लेनेवाले व्यक्ति की अपेक्षा कहीं अधिक शिक्षित हो।[८९] भावों के दृढ़ संस्कार के रूप में प्रत्येक शिरा और स्नायु में व्याप्त हो जाने को शिक्षा कहते हैं। जब तक हमें अग्नि की दाहिका-शक्ति का बोध नहीं होता, जब तक वह अनुभव हमारी धमनी तथा मज्जा तक नहीं पहुँचता, तब तक हमें अग्नि का बोध नहीं होता। थोड़ा-सा तर्कशास्त्र कण्ठस्थ कर लेने मात्र से ही शिक्षा नहीं हो जाती। जो जीवन के साथ मिश्रित हो जाय, वही यथार्थ शिक्षा है, जैसा कि परमहंस देव का काम-कांचन त्याग था – निद्रावस्था में भी उनके किसी अंग से रुपये का स्पर्श कराने पर उसमें विकृति आ जाती थी। इसी प्रकार जो संस्कार से एकाकार हो जाता है, वही वास्तविक शिक्षा है।[९०] जिन विचारों ने सूक्ष्मतर रूप धारण कर लिया है, उन्हीं में कुछ को फिर से तरंगाकार में लाने को ही 'स्मृति' कहते हैं। ... वे सभी सूक्ष्म रूप में रहती हैं और मनुष्य के मर जाने पर भी ये संस्कार उसके मन में विद्यमान रहते हैं – वे फिर सूक्ष्म शरीर पर कार्य करते रहते हैं।[९१] वेदान्तवादियों के मतानुसार जब इस शरीर का नाश हो जाता है, तब मनुष्य की इन्द्रियाँ मन में लीन हो जाती हैं, मन का प्राण में लय हो जाता है, प्राण आत्मा में प्रविष्ट हो जाता है और तब मानव की वह आत्मा मानो सूक्ष्म शरीर अथवा लिंग-शरीर रूपी वस्त्र पहनकर चली जाती है। इस सूक्ष्म शरीर में ही मनुष्य के सारे संस्कार निवास करते हैं।[९२]

हमारे पूर्व-संस्कार ही हमारी एकाग्रता-प्राप्ति में बाधक हैं। तुम लोगों ने देखा होगा कि ज्योंही तुम मन को एकाग्र करने का प्रयास करते हो, त्योंही तुम्हारे अन्दर नाना प्रकार के विचार आने लगते हैं। ज्योंही ईश्वर-चिन्तन की चेष्टा करते हो, त्योंही ये सब संस्कार जाग उठते हैं। दूसरे समय वे उतने कार्यशील नहीं रहते; परन्तु तुम ज्योंही उन्हें भगाने की चेष्टा करते हो, वे निश्चित रूप से आ जाते हैं और तुम्हारे मन को बिल्कुल आच्छादित कर देने का प्रयत्न करते हैं। इसका कारण क्या है? इस एकाग्रता के अभ्यास के समय ही वे इतने प्रबल क्यों हो उठते हैं? इसका कारण यही है कि तुम उनको दबाने की चेष्टा कर रहे हो और वे अपने सारे बल से प्रतिक्रिया करते हैं। अन्य समय वे इस प्रकार अपनी ताकत नहीं लगाते। इन सब पूर्व-संस्कारों की संख्या भी कितनी अधिक है! वे चित्त के किसी कोने में चुपचाप बैठे रहते हैं और मानो हमेशा बाघ के समान झपटकर आक्रमण करने के लिए घात लगाये रहते हैं! उन सबको रोकना होगा, ताकि हम जिस भाव को मन में रखना चाहें, वहीं आये और अन्य सारे भाव चले जायँ। पर ऐसा न होकर, वे सब उसी समय आने के लिए संघर्ष करते हैं। इन संस्कारों में मन की एकाग्रता-शक्ति में बाधा देने की क्षमता निहित होती है।[९३]

भली और बुरी आदतें

प्रत्येक कार्य चित्तरूपी सरोवर के ऊपर एक कम्पन के समान है। यह कम्पन कुछ समय बाद लुप्त हो जाता है।

फिर क्या बच रहता है? – केवल संस्कारों का समूह। मन में ऐसे बहुत-से संस्कार पड़ने पर वे इकट्ठे होकर 'आदत' में परिणत हो जाते हैं। कहते हैं कि 'आदत ही द्वितीय स्वभाव है।' केवल द्वितीय स्वभाव नहीं, वरन् वह 'प्रथम' स्वभाव भी है – मनुष्य का पूरा स्वभाव इस आदत पर ही निर्भर रहता है। **हमारा अभी जो स्वभाव है, वह पूर्व अभ्यास का फल है। यह जान लेने से कि सब कुछ अभ्यास का ही फल है, मन में शान्ति आती है; क्योंकि यदि हमारा वर्तमान स्वभाव केवल अभ्यासवश हुआ हो, तो हम चाहें, तो किसी भी समय उस अभ्यास को नष्ट कर सकते हैं।** हमारे मन में जो विचार-धाराएँ बह जाती हैं, उनमें से प्रत्येक अपना एक-एक चिह्न या संस्कार छोड़ जाती है। हमारा चरित्र इन सब संस्कारों की समष्टिस्वरूप है। जब कोई विशेष वृत्ति-प्रवाह प्रबल होता है, तब मनुष्य उसी प्रकार का हो जाता है। जब सद्‌गुण प्रबल होते हैं, तब मनुष्य भला हो जाता है। यदि दुर्गुण प्रबल हों, तो मनुष्य बुरा हो जाता है। यदि आनन्द का भाव प्रबल हो, तो मनुष्य सुखी होता है। **बुरी आदतों का एकमात्र प्रतिकार है – उसकी विपरीत आदत।** हमारे चित्त में जितने भी बुरे अभ्यास संस्कारबद्ध हो गये हैं, उन्हें अच्छे अभ्यास के द्वारा नष्ट करना होगा। केवल सत्कार्य करते रहो, सर्वदा पवित्र चिन्तन करो; बुरे संस्कार रोकने का बस यही एक उपाय है। ऐसा कभी मत कहो कि अमुक के उद्धार की कोई आशा नहीं है। क्यों? इसलिए कि वह व्यक्ति केवल एक विशिष्ट प्रकार के चरित्र का – कुछ अभ्यासों की समष्टि का द्योतक मात्र है, और ये अभ्यास नये और भले अभ्यास से दूर किये जा सकते हैं। चरित्र बस, बारम्बार अभ्यास की समष्टि मात्र है और इस प्रकार का बारम्बार अभ्यास ही चरित्र का सुधार कर सकता है।[९४] यदि किसी कर्म द्वारा हम ईश्वर की ओर बढ़ते हैं, तो वह भला कर्म है और हमारा कर्तव्य है; परन्तु जिस कर्म द्वारा हम नीचे गिरते हैं, वह बुरा है, और वह हमारा कर्तव्य नहीं है। आत्मनिष्ठ दृष्टिकोण से देखने पर हमें ऐसा प्रतीत होता है कि कुछ कार्य ऐसे होते हैं, जो हमें उन्नत बनाते हैं, और दूसरे ऐसे होते हैं, जो हमें नीचे ले जाते हैं और पशुवत् बना देते हैं।[९५]

चरित्र की ही सर्वत्र विजय होती है।[९६] पाश्चात्य देशों ने राष्ट्रीय जीवन के जो आश्चर्यजनक प्रासाद बनाये हैं, वे चरित्र-रूपी सुदृढ़ स्तम्भों पर खड़े हैं, और जब तक हम अधिक-से-अधिक संख्या में वैसे चरित्र न गढ़ सकें, तब तक हमारा इस राष्ट्र या उस राष्ट्र के विरुद्ध अपना असन्तोष प्रकट करते रहना निरर्थक है।[९७] न धन से काम होता है, न नाम से; न यश काम आता है, न विद्या; प्रेम से ही सब कुछ होता है। चरित्र ही कठिनाइयों की संगीन दीवारें तोड़कर अपना रास्ता बना सकता है।[९८] सैकड़ों युगों के उद्यम से चरित्र का गठन होता है।[९९] चरित्र की अपेक्षा अन्य ऐसी कौन-सी शक्ति है, जो जीने की योग्यता प्रदान कर सकती है? ... सभी सम्प्रदायों में केवल उन्हीं की विजय होगी, जो अपने जीवन में सबसे अधिक चरित्र का उत्कर्ष दिखा सकेंगे।[१००]

** ** ** ** ** ** ** ** ** **

सन्दर्भ-सूची –

७५. उद्बोधन (बंगला), वर्ष १९, पृ. ६३७; **७६.** विवेकानन्द साहित्य, खण्ड ३, पृ. ३; **७७.** वही, खण्ड ३, पृ. ४; **७८.** वही, खण्ड ३, पृ. ५; **७९.** वही, खण्ड ३, पृ. ५-६; **८०.** वही, खण्ड ७, पृ. २८; **८१.** वही, खण्ड ७, पृ. २२; **८२.** वही, खण्ड ८, पृ. ६१-६२; **८३.** वही, खण्ड ८, पृ. ६२; **८४.** वही, खण्ड ३, पृ. २९-३०; **८५.** वही, खण्ड १, पृ. ११८; **८६.** वही, खण्ड ३, पृ. ३०-३१; **८७.** वही, खण्ड ५, पृ. १९४; **८८.** वही, खण्ड ५, पृ. १९५; **८९.** वही, खण्ड ५, पृ. १९५; **९०.** युगनायक विवेकानन्द, खण्ड १, तृ.सं., पृ. २७४; **९१.** विवेकानन्द साहित्य, खण्ड २, पृ. २६; **९२.** वही, खण्ड २, पृ. २६; **९३.** वही, खण्ड १, पृ. १४८; **९४.** वही, खण्ड १, पृ. १२२-२३; **९५.** वही, खण्ड ३, पृ. ३९; **९६.** वही, खण्ड ३, पृ. ३२३; **९७.** वही, खण्ड ३, पृ. ३३२; **९८.** वही, खण्ड ३, पृ. ३३३; **९९.** वही, खण्ड ३, पृ. ३४४; **१००.** वही, खण्ड ४, पृ. ३३६।

परख के मापदण्ड

हम लोगों को आजीवन यह बात सीखनी होगी कि प्रत्येक व्यक्ति की परख उसके अपने आदर्शों के अनुसार करनी चाहिए, दूसरों के आदर्शों के अनुसार नहीं। ऐसा न करके हम दूसरों को अपने आदर्शों की दृष्टि से देखते हैं। यह ठीक नहीं। अपने आसपास रहने वालों के साथ व्यवहार करते समय हम सदा यही भूल करते हैं; और मेरे मतानुसार, दूसरों के साथ हमारी जो कुछ भी अनबन हो जाती है, वह अधिकतर इसी एक कारण से होती है कि हम दूसरों के देवता को अपने देवता के द्वारा, दूसरों के आदर्शों को अपने आदर्शों के द्वारा और दूसरों के उद्देश्य को अपने उद्देश्य के द्वारा परखने की चेष्टा करते हैं।

– स्वामी विवेकानन्द

भरत-जन्म का उद्देश्य (२/२)

पं. रामकिंकर उपाध्याय

(पण्डितजी ने कोलकाता के संगीत-कला मन्दिर ट्रस्ट द्वारा आयोजित व्याख्यान-माला में 'भरत-चरित्र' पर कुछ प्रवचन दिये थे। प्रस्तुत लेख उनके दूसरे प्रवचन का उत्तरार्ध है। टेप से इसे लिपिबद्ध करने का श्रमसाध्य कार्य श्रीराम संगीत महाविद्यालय, रायपुर के सेवानिवृत्त प्राध्यापक श्री राजेन्द्र तिवारी ने किया है। 'विवेक-ज्योति' में प्रकाशनार्थ हमें यह अयोध्या के 'श्री रामायणम् ट्रस्ट' के सौजन्य से प्राप्त हुआ, जिसके लिए हम उनके आभारी हैं। – सं.)

किसी घटना की व्याख्या तो दोनों तरह से की जा सकती हैं, भरत ननिहाल में थे और मन्थरा ने इसी बात को मोड़कर दूसरे अर्थों में कहा। मन्थरा बातें बनाने की कला में इतनी निपुण है कि शायद ही कोई उतनी चतुराई से बोल सके।

हमारे एक स्नेही पत्रकार जब सेवनिवृत्त होने लगे, तो उनके सम्मान में एक सभा बुलाई। उनसे स्नेह था, तो उनके मित्रों ने मुझे भी बुला लिया और कहा कि पत्रकारिता के आदर्श की दृष्टि से 'मानस' से आप कोई सन्देश दीजिए। मैंने कहा – **संवाददाता दो तरह के होते हैं – एक तो मन्थरा -जैसे और दूसरे हनुमानजी के समान।** अब चुनाव करना आपका काम है कि आपको कौन आदर्श प्रतीत होता है।

तो मन्थरा-जैसे जो पत्रकार होते हैं, उनकी सबसे बड़ी कला यह होती है कि वे सत्य और झूठ को बड़े सुन्दर ढंग से ऐसा मिला देते हैं कि कोई कह नहीं सकता कि यह बात झूठी है। मन्थरा इसी कला में पारंगत थी। उसकी हर बात का उद्देश्य था – सन्देह उत्पन्न करना और संघर्ष करा देना।

मन्थरा ने कैकेयी से कहा – महाराज दशरथ राम को राज्य देने जा रहे हैं। कैकेयी गद्‌गद हो जाती हैं – इतना मधुर, इतना प्रिय समाचार! मन्थरा, तुम जो माँगोगी, वही दूँगी। मन्थरा को निराश हो जाना चाहिए था। पर वह ऐसी पत्रकार नहीं थी, जो सहज ही हार माने। उसे विश्वास था कि अभी यह ऐसा कह रही हैं तो क्या हुआ, मैं इसे बदलना जानती हूँ। और आप जरा उसका साहस देखिये। कैकेयी जब कह देती है कि मैं तेरी जीभ कढ़वा लूँगी, तो भी उसे जरा भी भय नहीं लगता। उसकी कला देखिए। वह तत्क्षण कहती है – "आपने बड़ी अच्छी बात कही। आप कहती हैं कि राम ज्येष्ठ हैं, उनको राज्य मिलना चाहिए। मुझे इसमें कोई आपत्ति तो नहीं, पर इसके पीछे जो षड्यंत्र है ...।"

उसने बड़े सुन्दर ढंग से सत्य में झूठ को मिलाते हुए कहा – "पहली बात तो यह है कि राम को राज्य देने का निर्णय लिया गया" और सन्देह उत्पन्न करने के लिए उसने बड़े ही युक्तिसंगत ढंग से यह प्रश्न जोड़ दिया – "परन्तु राज्याभिषेक में भरत को नहीं बुलाना चाहिए था क्या?" यदि वे कहें कि कल ही निर्णय हुआ है, बुलाने के लिए समय नहीं था, अत: एक वाक्य और भी जोड़ देती है – "जानती हैं, यह राज्य देने की तैयारी कितने दिनों से चल रही है?"

उसने जो कहा, वह बिलकुल असत्य था। राज्य देने का निर्णय एक दिन पूर्व ही लिया था, क्योंकि महाराज दशरथ बड़े व्याकुल थे कि अब राज्य का परित्याग कर देना चाहिए। उन्होंने जब गुरु वशिष्ठ से पूछा – मन में कोई शुभ संकल्प हो, तो उसको मैं कब पूरा करूँ? गुरु वशिष्ठ बोले – शास्त्रों का आदेश है कि क्षण भर का विलम्ब भी उचित नहीं है।

शास्त्रों में सर्वत्र ऐसा कहा गया है, क्योंकि न जाने वह क्षण आयेगा या नहीं? आपने कथा सुनी होगी। युधिष्ठिरजी के पास जब कोई दान माँगने आया, तो वे किसी कार्य में व्यस्त थे, बोले – कल देंगे। सहसा बाहर बाजे बजने लगे। युधिष्ठिरजी को इस पर बड़ा आश्चर्य हुआ! पूछने पर पता चला कि भीमसेनजी ने इसके लिए आज्ञा दी है। युधिष्ठिर ने उन्हें भी बुलवाकर पूछा – तुम्हें ऐसा क्या समाचार मिला, जो तुमने बाजे बजाने की आज्ञा दे दी? भीमसेन बोले – "महाराज, जब आपने कहा कि दान कल दे देंगे, तो सुनकर बड़ी प्रसन्नता हुई कि हमको तो अगले क्षण का पता नहीं, पर आप जानते हैं कि कल तक आप-हम जीवित रहेंगे, इसी कारण तो यह कार्य आपने कल पर टाला है। अत: बजाओ, क्योंकि कल होगा।" युधिष्ठिर बोले – तुम बिलकुल ठीक कहते हो। उन्होंने याचक को वापस बुलाकर दान दिया।

इधर महाराज दशरथ के मन में एक संकल्प आया था। उन्होंने देख लिया कि कान के पास सफेद बाल मानो कह रहे थे कि अब आप यह राज्य-पद राम को दे दीजिए –

श्रवण समीप भये सित केशा।
मनहु जरण पन अस उपदेशा।।
नृप जो राज राम कँह देहू।

जैसे कोई दूत समाचार लेकर आता है, वैसे ही वृद्धावस्था में कान के पास के केश जो सफेद हो जाते हैं, वे मृत्यु की दूती हैं। श्री शंकराचार्य कहते हैं –

कृतान्तस्य दूती जराकर्णमूले
समागत्य लोका शृणुध्वम् शृणुध्वम्।
परस्त्री परद्रव्य हिंसा त्यजध्वम्

भजध्वम् रमानाथ-पादारविंदम् ।।

– कान के पास जो सफेद केश हैं, वे मानो यमराज की दूतियाँ हैं और आकर मानो कानों में कह रही हैं – सुनो, सुनो ! सावधान हो जाओ और परनारी, परधन तथा हिंसा को छोड़कर भगवान रमानाथ के पादपद्मों का चिन्तन करो ।

महाराज श्रीदशरथ ने सुना और गुरुजी के पास चले गये और उनसे कहा – मैं राम को राज्य देना चाहता हूँ, इसके लिए कौन-सा मुहूर्त ठीक होगा। गुरुजी बोले – मुहूर्त? कैसा मुहूर्त? जिस क्षण राम सिंहासन पर बैठ जायेंगे, वही मंगलमयी घड़ी होगी। जरा भी विलम्ब मत करो –

बेगि बिलम्बु न करिअ नृप साजिय सबुई समाजु ।
सुदिन सुमंगलु तबहिं जब रामु होहिं जुबराजु ।। २/४

अत: निर्णय तत्काल हुआ था। सोचिये, यदि चौदह दिन से तैयारी चल रही होती, तो नित्य चक्कर काटनेवाली मन्थरा को यह समाचार कब का मिल गया होता, लेकिन वह कहती है – आपको समाचार भी मिला, तो पन्द्रह दिन बाद और वह भी किसी और के नहीं, मेरे ही द्वारा –

भयउ पाखु दिन सजत समाजू ।
तुम्ह पाई सुधि मोहि सन आजू ।। २/१९/३

इस प्रकार मन्थरा ने कैकेयी के मन में सन्देह का कीड़ा पैठा दिया और फिर बाद में समझाने लगी कि यह षड्यंत्र कबसे चल रहा है। फिर उसने कहा – इसी षड्यंत्र के चलते भरत ननिहाल भेजे गये हैं। और ये जो राम की माँ कौशल्या हैं न, वे बड़ी चतुर और गहरी हैं। उन्होंने बड़ी चतुराई की। उन्होंने इस बात को कभी प्रगट नहीं होने दी और अवसर की प्रतीक्षा करती रहीं। देखिए, कैसा षड्यंत्र किया ! महाराज दशरथ के कान में बात भर दी कि भरत यहाँ रहेंगे तो गड़बड़ होगा, इसलिए यही ठीक होगा कि भरत को इतनी दूर भेज दिया जाय कि ये और इसके ननिहाल वाले कोई हस्तक्षेप न कर सकें। क्योंकि कौशल्या जानती हैं कि महाराज दशरथ कैकेयी को ही सर्वाधिक चाहते हैं। राजा यदि उसे छोड़कर किसी और से अधिक प्रेम करें, तो क्या सौत उसे सहेगी –

चतुर गँभीर राम महतारी ।
बीचु पाइ निज बात सँवारी ।।
पठये भरतु भूप ननिअउरें ।
राममातु मत जानब रउरें ।। २/१८/१-२
राजहि तुम्ह पर प्रेमु बिसेषी ।
सवति सुभाउ सकइ नहिं देखी ।। २/१८/५

तो इस प्रकार मन्थरा पहले तो भूतकाल का षड्यंत्र और फिर भविष्य का भयावना चित्र दिखाती है। फिर कहती है – अब यह तो वर्तमान षड्यंत्र है, चलो अब इसके बाद जो होना है, वह भी सुन लो। राम ज्योंही राजा होंगे, भरत को तत्काल कारागार में डाल दिया जायेगा, लखन युवराज बनेंगे और तुम्हें तो आजीवन कौशल्या की सेवा करनी होगी –

जौं सुत सहित करहु सेवकाई ।
तौ घर रहहु न आन उपाई ।। २/१९/८

बात ऐसे प्रभावशाली, ऐसे सन्देह जगानेवाले ढंग से कही गई कि कैकेयीजी प्रभावित हो गईं और कहने लगीं – तुम मेरी इतनी बड़ी हितैषी और मैं तुम्हें इतना भी नहीं पहचान पाई। और यहाँ तक कह दिया –

तोहि सम हित न मोर संसारा ।
बहे जात कइ भइसि अधारा ।। २/२३/२

– "मैं डूब जानेवाली थी, बह जानेवाली थी। इस अयोध्या में मुझे बचानेवाली और तो कोई है ही नहीं, बस तू ही है। अब तो यदि मेरी इच्छा पूरी हो गई, तो मैं तुम्हें दासी नहीं मानूँगी, तुम्हें तो अपनी आँख की पुतली ही बनाकर रखूँगी।"

इस तरह मन्थरा ने अपनी कलात्मक पद्धति के द्वारा राम के प्रति कैकेयी के सद्भाव को कुभाव में परिणत कर दिया। और इतना ही नहीं, कैकयी ने कहा था कि मैं तेरी जीभ कटवा दूँगी, सो कटना तो दूर, उसकी जीभ कैकेयी के जीभ पर ऐसी सवार हुई कि वह जो भाषा बोलती है, कैकेयी वही बोलती हैं और वैसा ही करती हैं। महाराज दशरथ मनाने भी आते हैं, तो वे बोलती ही नहीं।

किसी ने गोस्वामीजी से पूछ दिया – कैकेयीजी बोलती क्यों नहीं? तो उन्होंने व्यंगभरी भाषा में कहा – जब लोग मंत्रदीक्षा ले लेते हैं, तो जप करते समय बोलते नहीं। कैकेयीजी ने भी मंत्रदीक्षा ले ली है, इसलिए मौन हैं। उन्होंने किस महात्मा से और कब दीक्षा ले ली? उत्तर में गोस्वामीजी बोले – नहीं जानते ! अरे, वे जो मणि हैं, अद्वितीय हैं न ! – कौन? वे भक्ति-शिरोमणि हैं या ज्ञान-चूड़ामणि? तो कहा – वे जो करोड़ों कुटिलों में भी कुटिलमणि हैं –

कोटि कुटिल मनि गुरू पढ़ाई ।। २/२७/६

कौन? – मन्थरा। तो वह दासी होकर भी गुरु बन गई। पढ़ा दिया। उसकी बुद्धि इतनी पैनी थी कि वह एक-एक बात जानती थी। सब पहले से ही बता दिया था। बोली – "देखो, महाराज आयेंगे, तुम्हें मनाने की चेष्टा जरूर करेंगे, बोलेंगे और बोलने के बाद यदि सत्यवादिता की दुहाई देंगे तो भी तुम मत बोलना। कुछ भी कहें, तो भी मत बोलना –

भूपति राम सपथ जब करई ।
तब मागेहु जेहिं बचनु न टरई ।। २/२२/७

"महाराज सत्यवादी तो हैं, पर रामप्रेम की बात उठने पर वे सत्य पर स्थिर रह सकेंगे, मुझे ऐसा विश्वास नहीं। महर्षि विश्वामित्र के आने पर क्या हुआ था? महाराज ने पहले तो बड़े उत्साह से कह दिया कि जो माँगेंगे मिलेगा, पर जब उन्होंने राम को माँगा तो साफ कह दिया –

सब सुत प्रिय मोहि प्रान की नाईं ।
राम देत नहिं बनइ गोसाईं ।। १/२०८/५

– महाराज, सब दे दूँगा, पर राम को नहीं दूँगा। यहाँ भी तो वही बात है न। सो तुम तब तक बिलकुल चुप रहना, जब तक कि वे राम की शपथ न ले लें।''

शपथ के पीछे लोगों का विश्वास है कि यदि किसी की झूठी शपथ ले ली जाय, तो उसका अनिष्ट होगा। ''अत: जब वे राम की शपथ ले लेंगे, तो उनके सामने यह समस्या रहेगी कि अब यदि मैं वचन तोड़ूँगा, तो राम का अनिष्ट होगा। वे सोचेंगे कि राम का कोई बड़ा अनिष्ट हो, इससे अच्छा तो चौदह साल का वनवास ही रहेगा।'' मन्थरा ने जो कुछ समझाया था, कैकेयी ने उसका अक्षरश: पालन किया। वैसे ही, महाराज दशरथ के बार-बार बोलने पर भी वे नहीं बोलतीं। और अन्त में सहसा महाराज के मुँह से निकल गया – ''राम की शपथ लेता हूँ कि जो कहोगी, वही करूँगा।'' यह सुनकर मन्दबुद्धि कैकेयी हँसती हुई उठ खड़ी हुई –

यह सुनि मन गुनि सपथ बड़ि
बिहसि उठी मतिमंद । २/२६

– अच्छा, तो वह दासी कहलानेवाली मेरी मन्थरा कितनी दूरदर्शी है? उसको इतना तक पता था। शपथ लेने के बाद महाराज दशरथ को तो एक तरह का पश्चाताप-सा हुआ। वे तो कल्पना कर ही नहीं सकते कि कैकेयी के मन में राम के प्रति कोई अनिष्ट भावना हो सकती है। पहले तो उन्होंने सत्य की प्रशंसा की और उसके बाद कहा – कैकेयी, सत्य की बात तो छोड़ो, क्या बताऊँ मेरे मुँह से तो राम की शपथ भी निकल गई। राम तो मेरे धर्म ही नहीं, स्नेह की भी सीमा हैं –

तेहि पर राम सपथ करि आई ।
सुकृत सनेह अवधि रघुराई ।। २/२८/७

कैकेयी समझ गयी कि अब ये टल नहीं सकते। मन्थरा अपनी कूटनीतिक बुद्धि से जैसे वह घटनाओं की व्याख्या करती है, उसका परिणाम अन्त में भगवान राम के वनवास और महाराज श्रीदशरथ की मृत्यु के रूप में सामने आया।

व्याख्या तो दोनों ही रूपों में हो सकती है। जब राम वन चले गये, तो अयोध्या में चर्चा होने लगी – यह जो कुछ हुआ, इसके पीछे कौन है? तो व्याख्या उलट गई। मन्थरा के अनुसार भरत को ननिहाल इसीलिए भेजा गया, ताकि राम का राज्याभिषेक निर्विघ्न हो सके और अयोध्यावासियों की व्याख्या यह थी कि भरत जान-बूझकर इसीलिए ननिहाल चले गये कि यहाँ जो कुछ होना है, वह हमारी माँ कर दे, षड्यंत्र पूरा होने के बाद मैं आकर सिंहासन पर बैठ जाऊँ। व्याख्या चाहे अच्छी कीजिये, या बुरी कर दीजिए, वह तो दुधारी तलवार है।

अयोध्या में जब ऐसी चर्चा चल रही थी और श्रीभरत ने नगर-प्रवेश किया, तो उनका बड़ा उपेक्षापूर्ण स्वागत हुआ। कोई भी व्यक्ति उनके पास नहीं आ रहा है, क्योंकि सबको भरत से घृणा हो गई थी। लोग उन्हें प्रणाम तो दूर से कर देते हैं, पर चुपचाप चले जाते हैं। और भरतजी यह देखकर सहज भाव से सोचते हैं कि अयोध्या का वातावरण तो बड़ा शोकपूर्ण दिखाई देता है। लोग मुझसे दूर क्यों भाग रहे हैं? कोई मुझसे बोलना क्यों नहीं चाहता? मुझे तो डर लगता है। क्या हो गया है आज अयोध्या में? किससे पूछूँ –

पुरजन मिलहिं न कहहिं कछु गवँहिं जोहारहिं जाहिं ।
भरत कुसल पूँछि न सकहिं भय बिषाद मन माहिं ।। २/१५८

और उसी मन:स्थिति में नगरवासियों ने देखा कि श्रीभरत आये और घोड़े पर बैठे कैकेयी के महल की ओर चले गये। उनके महल में प्रविष्ट होने पर प्रत्येक ने कहा कि इससे बड़ा और क्या प्रमाण होगा? शिष्टाचार के नाते भी तो पहले इन्हें बड़ी-माँ महारानी कौशल्या के पास जाना चाहिए था। पर वे तो सब जानते हैं, इसीलिए अपनी माँ के भवन में जा रहे हैं।

पर वहाँ कुछ ऐसे लोग भी थे, जिनकी भरतजी के प्रति अचल आस्था थी और वह मिटी नहीं थी – वे कान ढँककर, जिह्वा को दाँतों-तले दबाकर कहते हैं – यह बात झूठ है, ऐसा कहने से तुम्हारा धर्म नष्ट होगा। भरतजी को श्रीराम प्राणों से भी प्यारे हैं। चन्द्रमा भले ही आग की चिनगारियाँ बरसाने लगे, अमृत जहरीला हो जाय, पर भरतजी कभी सपने में भी श्रीराम के विरुद्ध कुछ नहीं कर सकते –

कान मूदि कर रद गहि जीहा ।
एक कहहिं यह बात अलीहा ।।
सुकृत जाहिं अस कहत तुम्हारे ।
रामु भरत कहुँ प्रानपिआरे ।। २/४८/७-८
चन्दु चवै बरु अनल कन सुधा होइ विषतूल ।
सपनेहुँ कबहुँ न करहिं कछु भरतु राम प्रतिकूल ।।२/४८

जिनकी यह आस्था थी, वह दृढ़ तो थी। पर सारे प्रमाण भरत के विरुद्ध ही जा रहे थे। और बाद में जब भरतजी बोलने के लिए खड़े हुए, तो हर व्यक्ति बड़े ध्यान से सुनने लगा कि देखें, क्या कहते हैं। और भरतजी ने कहना आरम्भ किया – गुरु, पिता, माता और स्वामी की आज्ञा को बिना विचारे ही प्रसन्न मन से मान लेना चाहिए। इसमें उचित-अनुचित का विचार करने पर धर्म नष्ट हो जाता है –

गुर पितु मातु स्वामि हित बानी ।
सुनि मन मुदित करिअ भलि जानी ।।
उचित कि अनुचित किएँ बिचारू ।
धरमु जाइ सिर पातक भारू ।। २/१७७/३-४

गुरु वशिष्ठ ने भी सन्तोष की साँस ली – चलो, भरत ने धर्म की मेरी व्याख्या को स्वीकार किया। परन्तु जिन्हें सन्देह था, उन्होंने कहा – सिद्ध हो गया। कैसी भूमिका बाँधी जा रही है। पुराने समय में भी और आज भी देखने में आता है।

किसी को कोई पद देने पर लोग कहे बिना नहीं रहते कि मैं तो नहीं चाहता था, मैं तो इसके योग्य नहीं हूँ, पर गुरुजनों की आज्ञा को कैसे टालें, बड़ों का आग्रह कैसे नकारें और वे बड़ी श्रद्धा-भक्ति के साथ बड़ों की बात मान लेते हैं। विशेष रूप से तब, जब कुछ लेने की बात हो। और वही बात श्रीभरत ने भी कही। जब भरतजी का भाषण समाप्त हुआ, तो लोग चकित हो गये। और 'मानस' के शब्दों से लगता है कि उसके पहले भरत के प्रति लोगों में सद्भावना नहीं थी –

चलत प्रात लखि निरनउ नीके।
भरतु प्रानप्रिय भे सबही के।।

उस समय भरतजी ने जो कुछ कहा था, वह गुरु वशिष्ठ को अच्छा नहीं लगा। वे उसे सहजता से स्वीकार नहीं कर सके, पर उन्होंने सोचा था कि इस समय हमें मौन रहना चाहिए, क्योंकि स्पष्ट दीख रहा था कि भरत के भाषण से आज सारी सभा सम्मोहित हो गई है। अत: जब चित्रकूट जाने का निर्णय हुआ, तो मौन वशिष्ठजी भी साथ हो गये। और चित्रकूट में भी कई दिनों तक उनके मन में संशय बना रहा कि भरत जो चाहते हैं, वह तो धर्म के अनुकूल नहीं है। क्या राम इनकी बात मानकर अयोध्या लौट जायेंगे? यदि लौट गये, तो सत्य का क्या होगा? महाराज श्रीदशरथ के वचन का क्या होगा? इसी चिन्ता में वे निमग्न थे।

पर चित्रकूट की अन्तिम सभा के बाद जब गुरुदेव लौटे, तो वे पूरी तौर से बदल चुके थे। जब भरतजी उनके चरणों में प्रणाम करके कहते हैं – गुरुदेव, मेरे मन में इच्छा है कि मैं नन्दीग्राम में कुटी बनाकर रहूँ और वही से तपस्वी का जीवन व्यतीत करते हुए अयोध्या-राज्य की सेवा करूँ। आप हमारे आचार्य हैं, गुरु हैं, और धर्म की व्याख्या तो आपके द्वारा ही की जाती है। आप बताइए कि कहीं यह कार्य धर्म के प्रतिकूल तो नहीं है? गुरु वशिष्ठ भरतजी का यह प्रश्न सुनकर बड़े भावविह्वल हो गये; वे विवेकी हैं, ज्ञानप्रधान हैं, तथापि पुलकित हो गये। उन्होंने कहा – "भरत, जब यह प्रश्न आता है कि धर्म क्या है? संविधान क्या है? तब उसके लिए संविधान की पुस्तक पढ़ी जाती है। इसी प्रकार शास्त्रों ने धर्म की व्याख्या की है। शास्त्रों ने धर्म के लक्षण बताये हैं। तो माना गया कि धर्म के विषय में यदि कोई मतभेद हो, कोई भ्रम हो, तो उसका एकमात्र उपाय है कि हम शास्त्रों के माध्यम से उसका निर्णय लें (गीता, १६/२४) –

तस्मात् शास्त्रं प्रमाणस्ते कार्याकार्य व्यस्थितौ।

बात सुनने में तो बड़ी सीधी-सी लगती है। पर शास्त्र की व्याख्या कौन करेगा? शास्त्र में तो शब्द लिखे हुए है और शब्दों की व्याख्या तो व्यक्ति करेगा। व्यक्ति व्याख्या करेगा, तो वह बुद्धि से ही तो करेगा। ऐसी स्थिति में यदि उसकी बुद्धि में ही कोई पक्षपात या आग्रह हो, तो भले ही वह शास्त्र की दुहाई दे, पर कहीं-न-कहीं तो वह अपने बौद्धिक छल के द्वारा शास्त्र के शब्दों को अपने पक्ष में मोड़ लेगा। और पहले के समान ही आज भी देखा जाता है कि न्यायालय में दोनों पक्षों के वकील दुहाई तो कानून के ग्रन्थों की ही देते हैं, लेकिन व्याख्याएँ कितनी बदल जाती हैं!

तो इस कठिन स्थिति में वशिष्ठजी बोले – भरत, आज तक मैं धर्म की व्याख्या शास्त्र से करता रहा, पर चित्रकूट से लौटने के बाद मैंने निर्णय कर लिया है कि धर्म की व्याख्या के लिए मैं कोई शास्त्र नहीं देखूँगा। – गुरुदेव, तब निर्णय कैसे होगा? गुरुजी बोले – भरत, मेरे लिए तो तुम्हीं एकमात्र प्रमाण हो। तुम जो समझोगे, कहोगे और करोगे, वही धर्म होगा –

समुझब कहब करब तुम जोई। २/३२३/८

ये तीन शब्द ही धर्म के मुख्य सूत्र हैं। धर्म को समझना, जो समझ गये हैं उसे कहना और जो कह रहे हैं उसे करना। समझे कुछ, कहे कुछ, करे कुछ – जहाँ यह वृत्ति होगी, वहाँ धर्म कहाँ होगा? अधिकांश लोगों की समस्या यही है।

गुरुजी बोले – भरत, मैं यह नहीं कहता कि शास्त्रों में धर्म का वर्णन सही नहीं है, पर इतिहास में आज तक जो भी धर्मात्मा हुए, उन्होंने धर्म को जीवन में स्वीकार किया। मैं भी धर्म के लक्षण बताता रहा, पर तुम्हारे सन्दर्भ में अब मुझे एक नया शब्द जोड़ना होगा। आज तक समाज ने 'धर्म' ही सुना। पर जो तुम्हारे व्यक्तित्व में है, जो तुम्हारे चरित्र में है, वह 'धर्मसार' है। जो तुम समझोगे, जो तुम कहोगे और जो तुम करोगे, उसी को संसार धर्म का सार मानेगा –

धरम सारु जग होइहि सोई।। २/३२३/८

ये शब्द किसी साधारण व्यक्ति द्वारा नहीं, महामुनि त्यागी ब्रह्मर्षि के द्वारा कहे गये हैं। गुरु वशिष्ठ ने प्रारम्भ में अपने शिष्य की क्रमशः परीक्षा ली, घटनाओं को अपने आँखों के सामने घटते हुए देखा, श्रीराम को बोलते देखा और उसका अन्तिम परिणाम देखा और तब उन्हें लगा कि इस शिष्य ने धर्म को जैसा समझा, वैसा तो मैं भी नहीं समझ सका हूँ।

यह जो धर्म और धर्मसार है, उसका भेद भी समझ लें। धर्म केवल शब्दों के द्वारा ही निरूपित हुआ है। धर्मशास्त्र शब्दमय है। शास्त्रों ने शब्द को बड़ा महत्त्व दिया है। परन्तु धर्म के सन्दर्भ में पहले इस सूत्र को समझ लें।

कारागार और आपका घर – इन दोनों में क्या अन्तर है? आपका घर भी ईंट-पत्थर-सीमेंट से बना है और कारागार की दीवारें भी उन्हीं से बनी है। परन्तु आप कारागार में नहीं, घर में ही रहना पसन्द करते हैं। उनमें अन्तर यह है कि घर में स्वंतत्रता और परतंत्रता का सामंजस्य है, जबकि कारागार में केवल परतंत्रता का साम्राज्य है। कारागार में केवल बाहर से ही ताला बन्द करने का उपाय होता है, भीतर से नहीं। बन्द कर दिये जाने पर कैदी स्वतंत्र नहीं रह जाता। और जब आप

घर में होते हैं, तो भी सिटकनी लगाते हैं, कमरा बन्द करते हैं, पर वह परतंत्रता स्वयं की बनाई हुई और सुरक्षा के लिए होती है। इसमें आप स्वतंत्र होते हैं, भीतर से बन्द किए हुए हैं, चाहे जब उसे खोलकर बाहर आ सकते हैं। वैसे ही यदि धर्म को शब्द के कारागार में बन्द कर दिया जाय, तो अनर्थ हो जायेगा। और ऐसा ही होता रहा है। भरतजी ने धर्म को शब्द के कारागार से मुक्त करके, उसे ऐसे भवन में प्रतिष्ठित कर दिया कि लोगों ने उसका यथार्थ स्वरूप अनुभव किया।

पूरा महाभारत देख लीजिये। पग-पग पर 'शब्द' की पराधीनता है। महाभारत का कौन-सा ऐसा पात्र है, जो धर्म के नाम पर इस शब्द के कारागार में बन्दी नहीं है। भीष्म कहते हैं कि मेरे मुँह से जो शब्द निकला और वही सत्य है। और वह शब्द कारागार हो गया। शब्द के इस कारागार में भीष्म, कर्ण, द्रोणाचार्य – सभी बन्दी हैं, कोई मुक्त ही नहीं। इस कारागार से कोई मुक्त था, तो वे थे भगवान कृष्ण। पर उन्हें लोगों ने उस युग में उतना सत्यवादी नहीं माना। जरा सोचिये – यदि भगवान कृष्ण न होते, तो क्या स्थिति हो जाती? कर्ण से युधिष्ठिर का युद्ध हुआ। कर्ण बड़ा योद्धा था। युधिष्ठिर भागे। डर के मारे शिविर में आ गये। अर्जुन ने सुना – महाराज घायल हो गये। व्याकुल हुए। देखे, उन्हें कैसी चोट आई! शिविर में आये तो युधिष्ठिर स्वागत करते हुए बोले – "आओ, आओ, तुम कर्ण का वध कर आये, मेरा हृदय शीतल कर दिया, उसने मेरा बड़ा अपमान किया था।" अर्जुन ने कहा – "नहीं महाराज, वे मरे नहीं हैं, मैं तो आपको देखने आया हूँ।" युधिष्ठिर को चोट लगी थी, क्रुद्ध होकर बोले – "धिक्कार है तुम्हारे गाण्डीव को, तुम ऐसे ही चले आये! उसने मेरा इतना बड़ा अपमान किया।" अर्जुन ने तलवार निकाली और उन्हें मारने चले। भगवान ने पूछा – क्या कर रहे हो? – "महाराज, मैंने प्रतिज्ञा की है कि यदि कोई मेरी निन्दा करेगा तो मैं सह लूँगा, पर यदि कोई मेरे गाण्डीव की निन्दा करेगा, तो मैं उसका सिर काट लूँगा। अत: सत्य की रक्षा के लिए मुझे इनका सिर काटना होगा।" भगवान न होते, तो नि:सन्देह युधिष्ठिर का सिर कट जाता।

व्यासदेव ने कहा – जिधर धर्म होता है, उसी की विजय होती है – **यतो धर्मस्ततो जय:**। फिर वही समस्या! बाल-ब्रह्मचारी भीष्म क्या धर्मात्मा नहीं हैं, महादानी कर्ण क्या धर्मात्मा नहीं है, द्रोणाचार्य-जैसे तपस्वी क्या धर्मात्मा नहीं हैं? कैसे कह दिया कि धर्म की ही विजय होती है?

सोना और पीतल – देखने में तो दोनों एक जैसे ही होते हैं। कोई जब सराफ के पास सोने-जैसी कोई धातु लेकर जाता है, तो वह अपनी पेटी से काले पत्थर की कसौटी निकालता है और उस पर कसकर देखता है, तभी मानता है कि सोना खरा है या खोटा। इसी प्रकार धर्म असली सोना भले ही हो, पर नकली धर्म भी असली-जैसा ही दिखाई देता है। तब निर्णय करना कठिन हो जाता है कि यह धर्म असली है या नकली। वे बोले – जैसे सराफ सोने को काले पत्थर पर कसकर देखता है, मेरे पास भी कृष्ण-रूपी एक काली कसौटी है। मैं इसी कसौटी पर कसकर देखूँगा – कृष्ण जिसे स्वीकार करते हैं, वही धर्म है। जिसे वे स्वीकार नहीं करते, उसे मैं धर्म ही नहीं मानता। वह नकली धर्म होगा –

यतो कृष्णस्ततो धर्म:, यतो धर्मस्ततो जय:।

अर्जुन जैसे व्यक्ति भगवान से कह रहे हैं – महाराज, मेरा सत्य कैसे बचेगा? भगवान व्याख्या करते हैं – "तुम मारना ही चाहते हो न! तो सबको एक जैसे ही थोड़े मारा जाता है। बड़ों के लिए तो चार कठोर शब्द ही मृत्यु के समान है। तुम दो-चार कड़े शब्द कह दो, बस, तुम्हारी प्रतिज्ञा पूरी हो गई।" लोगों को लगता है कि भगवान भी अच्छा मार्ग निकाला करते हैं। पर वस्तुत: सूत्र तो वही है, पर लोग समझ नहीं पाते थे। दुर्योधन का विश्वास था कि युद्ध में मेरी जीत कैसे नहीं होगी? मेरे सेनापति भीष्म हैं और उन्हें अपने पिता से अपने महान् त्याग के बदले 'इच्छा-मृत्यु' का वरदान मिला हुआ है। तो जब हमारा सेनापति ही नहीं मरेगा, तो जीत हमारी ही तो होगी। भीष्म को इच्छा-मृत्यु का वरदान तो मिला था, परन्तु बेचारे दुर्योधन को यह पता नहीं था कि इच्छा करानेवाला तो उधर है।

महाभारत के सारे पात्रों को शब्द ने बन्दी बना रखा था। जिसके मुख से जो निकला वही सत्य है, वही धर्म है, उसी पर मर जायेंगे, मिट जायेंगे। पर धन्य हैं श्रीभरत। वे पहले पात्र हैं, जिन्होंने धर्म को शब्द के कारागार से छुड़ा करके बता दिया कि **शब्द धर्म नहीं है, शब्द का तात्पर्य धर्म है।**

सोचिये जरा, अयोध्या में जो हो रहा था, वह सब शब्द के ही आधार पर तो हो रहा था। श्रीभरत ने भूमिका तो इतनी बाँधी – गुरु तथा माता-पिता की आज्ञा मानना बड़ा धर्म है, पर जब आगे कहने लगे, तो सबको उचित उत्तर दे देते हैं –

भरतु कमल कर जोरि धीर धुरंधर धीर धरि।
बचन अमिअँ जनु बोरि देत उचित उत्तर सबहि॥

शुद्ध घी में कितनी भी बढ़िया जलेबी तली गई हो, पर यदि वह उसी रूप में किसी को दी जाय, तो एकदम फीकी और बेस्वाद लगेगी। यदि वही चासनी में डुबो दी जाय, तो कैसी रसमय हो जाती है। भरतजी की कला यही थी। वे शुद्ध धर्म को शील की चासनी में डुबो लेते हैं। उनके द्वारा धर्म की जो ऐसी रसमय व्याख्या हुई, उससे लगता है –

जौं न होत जग जनम भरत को।
सकल धरम धुर धरनि धरत को॥ २/२३३/१

– यदि भरतजी का जन्म न हुआ होता, तो सभी धर्मों की धुरा को कौन धारण करता? ❖ **(क्रमश:)** ❖

चरित्र-निर्माण का उपाय

स्वामी आत्मानन्द

(ब्रह्मलीन स्वामी आत्मानन्द जी ने आकाशवाणी के चिन्तन कार्यक्रम के लिए विविध विषयों पर अनेक विचारोत्तेजक लेख लिखे थे, जो उसके विभिन्न केन्द्रों द्वारा समय समय पर प्रसारित किये जाते रहे हैं तथा काफी लोकप्रिय हुए हैं। प्रस्तुत लेख आकाशवाणी, रायपुर से साभार गृहीत हुआ है। - सं.)

हमने बचपन में पढ़ा था – "If wealth is lost nothing is lost; if health is lost, something is lost; if character is lost, everything is lost." – अर्थात् यदि धन नष्ट होता है, तो कुछ भी नष्ट नहीं होता, यदि स्वास्थ्य नष्ट होता है, तो कुछ अवश्य नष्ट होता है, पर यदि चरित्र नष्ट होता है, तो सब कुछ नष्ट हो जाता है। आज हमारा चरित्र नष्ट हो गया है, इसलिए अच्छी-अच्छी योजनाओं के बावजूद हमारा राष्ट्र खड़ा नहीं हो पा रहा है। स्वार्थ का घुन हमारे पारिवारिक, सामाजिक और राष्ट्रीय जीवन को खोखला किये दे रहा है। आज आदमी इतना मतलबपरस्त कैसे हो गया, समझ में नहीं आता। हमारा देश तो ऐसा है जहाँ सदैव से नैतिक और आध्यात्मिक मूल्यों पर बड़ा जोर दिया जाता रहा है। इसके बावजूद हमारे जीवन में नैतिक मूल्यों का जितना अभाव है, उतना उन पश्चिमी देशों में नहीं, जो धर्म और अध्यात्म का दिखावा नहीं करते।

इस चरित्रहीनता का कारण खोजना कठिन नहीं है - वह है व्यक्ति का स्वार्थ, उसका लोभ, जो उसके समस्त मानवीय मूल्यों को खत्म कर देता है। चरित्र का तात्पर्य है मानवीय मूल्यों के प्रति प्रतिबद्धता, और मानवीय मूल्यों का अर्थ है एक व्यक्ति का दूसरे के प्रति सहानुभूति और सहयोगिता का भाव। स्वार्थ या लोभ की वृत्ति हमारी इस सहानुभूति एवं सहयोगिता की भावना का ग्रास कर लेती है। हम इस जीवन की दौड़ में दूसरों को टँगड़ी मारकर या धक्का देकर आगे निकल जाना चाहते हैं, पर यह भूल जाते हैं कि दौड़ में सही अर्थों में जीत तो उसी की होती है, जो दूसरों को दौड़ने में सहायता देता है। यह पाठ हमें प्राचीन काल से पढ़ाया जाता रहा है, पर इसे हम बार-बार भूल जाते हैं, और ऐसा लगता है कि आजादी के इन अठावन वर्षों में हम इसे एकबारगी भूल गये हैं।

आज हम चारित्रिक संकट के दौर से गुजर रहे हैं। इसमें मानवीय मूल्य नहीं रह जाते, आस्थाएँ एकदम समाप्त हो जाती हैं, व्यक्ति केवल स्वार्थलोलुप रह जाता है और येन केन प्रकारेण स्वार्थ की साधना ही अपने जीवन का मूलमंत्र मानता है। हम अपेक्षा करते हैं कि दूसरे सब लोग तो सच्चाई की राह चलें, ईमानदार हों, और यदि हम अकेले असत्य की राह चलते हों, बेईमान बनते हों, तो हमें छूट मिलना चाहिए। हम कैकेयी का दर्शन अपनाना चाहते हैं, जिसने अपने बेटे के लिए तो राजसत्ता का भोग माँगा और दूसरे के बेटे के लिए त्यागरूप वनवास। हम मुँह से त्याग की प्रशंसा तो करते हैं, पर चाहते हैं कि दूसरे लोग यह त्याग अपनाएँ। हम जबान से भोग की निन्दा तो करते हैं, पर अपने लिए भोग की छूट चाहते हैं। हमारे ओठों से बड़ी बड़ी बातें तो निकलती हैं, पर वे महज दूसरों को सुनाने के लिए होती हैं, हमारे अपने हृदय में उन बातों का कोई स्पन्दन नहीं होता। हम बड़े जोरदार शब्दों में नैतिकता और चरित्र की वकालत करते हैं, इसलिए नहीं कि हम इन गुणों के कायल हैं, बल्कि इसलिए कि लोग हमें सच्चा और ईमानदार मानें। हममें अपने को सच्चा और ईमानदार दिखाने की व्यग्रता होती है, सच्चा और ईमानदार बनने की नहीं। हममें प्रवृत्ति तो झूठ काम करने की है, पर चाहते हैं कि लोग हमें सच्चा कहें। इससे चरित्र का निर्माण कैसे होगा?

अतः यदि हम चाहते हैं कि हमारा देश अपनी बहुविध समस्याओं का समाधान करते हुए विश्व के मंच पर यशस्वी बन कर उभरे, तो हमें चरित्र-निर्माण पर सबसे अधिक जोर देना पड़ेगा। उसके बिना सब थोथा है, विकास और उन्नति की सारी बात बकवास है तथा धर्म महज दिखावा और पाखण्ड है। चरित्र-निर्माण की पहली शर्त है अनुशासन। कठोर अनुशासन चरित्र-रत्न को खरादकर निखारता है। अनुशासन के दो पक्ष हैं - एक है भीतरी, जो हमारी इच्छा से पैदा होता है, और यही सही अनुशासन है। दूसरा है बाहरी, जो समाज या राष्ट्र हम पर बाहर से लादता है। अनुशासन के इन दोनों पक्षों को साथ मिलकर काम करना होगा, शास्त्र और शस्त्र दोनों को मिलकर जीवन में प्रभावी बनना होगा, तब कहीं चरित्र-निर्माण की आशा की जा सकती है। कुछ लोग ऐसे होते हैं, जो अपने संयम और ज्ञान के बल पर अपना अनुशासन करते हैं और इस प्रकार अपना चरित्र-बल प्रकट करते हैं। पर बहुत-से ऐसे लोग भी होते हैं, जिनको अनुशासन में रखने के लिए डण्डे की जरूरत होती है। चरित्र-निर्माण का पाठ इन दोनों को मिलाकर पूरा होता है।

फिर, यह चरित्र-निर्माण ऊपर से नीचे की ओर बहता है। ऊपर यदि सब ठीक है, तो नीचे के लोग भी अपने आप ठीक होने लगते हैं। समाज में आचरण-भ्रष्टता का फैलाव ऊपर के तबकों के लोगों से होता है। वहाँ सुधार की तत्क्षण और प्राथमिक आवश्यकता है। समाज के ऊपर के अंगों का हम इलाज करें, तो नीचे के अंग अपने आप रोगमुक्त हो जाएँगे। ❑❑❑

श्रीरामकृष्ण की बोध-कथाएँ

(कथाओं व दृष्टान्तों के माध्यम से अपनी बातें समझाने की परम्परा वैदिक काल से ही चली आ रही है। श्रीरामकृष्ण भी अपने उपदेशों के दौरान अनेक कथाएँ सुनाते थे। यत्र-तत्र बिखरी इन मूल्यवान कथाओं को हम यहाँ धारावाहिक रूप से प्रस्तुत कर रहे हैं। – सं.)

– ४८ –

त्याग-वैराग्य धीरे-धीरे नहीं आता

एक व्यक्ति की अपनी पत्नी के साथ त्याग-वैराग्य के विषय में बातें हो रही थीं। बातें करते-करते उसके नहाने का समय हो गया। वह कन्धे पर गमछा डाले तालाब की ओर जाने को तैयार हुआ। तभी उसकी स्त्री ने कहा, "देखो, मेरे भाई को कितना अधिक वैराग्य हुआ है और कहाँ तुम ! मुझे छोड़कर एक दिन भी नहीं रह सकते !"

पति ने पूछा – "क्यों, उसने ऐसा क्या किया है?" पत्नी – "उसकी सोलह पत्नियाँ थी, वह उन्हें एक-एक छोड़ता जा रहा है। कितना बड़ा त्याग है उसका ! इसी प्रकार एक दिन वह सर्वत्यागी बन जायेगा।" पति – "अरी पगली, कहीं ऐसे भी त्याग होता है?" पत्नी – "तो कैसे होता है?" पति – "ठीक है, तो देख, ऐसे होता है !"

इतना कहकर वह वैसे ही कन्धे पर गमछा लिए हुए ही घर से निकल गया और फिर कभी लौटकर नहीं आया। उसने बाल-बच्चों का क्या होगा या घर का प्रबन्ध कैसे चलेगा आदि विषयों के बारे में बिलकुल भी नहीं सोचा।

इसी को तीव्र वैराग्य कहते हैं। श्रीरामकृष्ण कहते हैं कि जब तीव्र वैराग्य होता है, तो संसार अन्धकूप के समान और सगे-सम्बन्धी काल-सर्प जैसे प्रतीत होते हैं।

एक तरह का वैराग्य और है, जिसे मर्कट-वैराग्य कहते हैं। एक व्यक्ति संसार की ज्वाला से त्रस्त है। बीबी कहना नहीं मानती, वेतन सिर्फ बीस रुपया महीना, बच्चे को पढ़ाने का खर्च नहीं, घर टूटा हुआ, छत चू रही है, मरम्मत के लिए रुपये नहीं ! संसार की ज्वाला से जलकर गेरुआ वस्त्र पहनकर काशी चला गया। बहुत दिनों तक कोई खबर नहीं। फिर सहसा एक चिट्ठी आयी – "तुम लोग कोई चिन्ता मत करो, यहाँ मुझे एक काम मिल गया है।"

– ४९ –

नारद का माया-दर्शन

एक बार देवर्षि नारद ने भगवान विष्णु से अनुरोध किया, "प्रभो, आप एक बार मुझे अपनी अघटन को घटानेवाली माया के दर्शन कराइये।" भगवान ने पहले तो उन्हें समझाया कि क्यों बेकार माया के चक्कर में पड़ना चाहते हो? परन्तु नारद के हठ के सामने भगवान को हार माननी पड़ी। वे बोले, "ठीक है, दिखा दूँगा।"

इसके कुछ काल बाद एक दिन भगवान नारद को साथ ले घूमने निकले। बहुत दूर घूमते हुए भगवान को प्यास लगी। प्यास के मारे वे अधीर हो गए और नारद से बोले, "नारद ! कहीं से पानी लाकर मेरी प्यास बुझाओ।" नारद तुरन्त पानी लाने चल पड़े।

उन्हें पास में कहीं पानी नहीं मिला। थोड़ी दूरी पर एक नदी दिखाई दे रही थी। पास जाकर नारद ने देखा कि नदी के किनारे एक बड़ी सुन्दर युवती बैठी हुई है। नारद उसके रूप पर मोहित हो गए। नारद के पास आते ही वह युवती उनके साथ मधुर वार्तालाप करने लगी। थोड़े ही समय में दोनों के बीच आपस में प्रेम-सम्बन्ध जुड़ गया। नारद ने उसके साथ विवाह करके वहीं पर अपनी गृहस्थी बसा ली। धीरे-धीरे उनके कई सन्तानें भी हो गयीं। नारद अपने बाल-बच्चों के साथ सुखपूर्वक गृहस्थी चलाने लगे। इस प्रकार उनके दिन बड़े आनन्द में बीत रहे थे कि सहसा उस अंचल में एक बड़ी भयंकर महामारी फैली। चारों ओर लोग कीड़े-मकोड़ों की भाँति मरने लगे। बचे हुए लोग घर-बार छोड़-छोड़कर भागने लगे।

नारद ने भी सपरिवार उस स्थान को त्यागने का निश्चय किया। पत्नी भी उनके इस प्रस्ताव पर सहमत थी। दोनों बच्चों को साथ लिए घर से निकल कर चल पड़े। एक जगह जब वे लोग नदी पार कर रहे थे, तभी उसमें जोरों की बाढ़ आ गई और उसमें एक-एक कर उनके सभी बच्चे बह गए। पत्नी भी चीखकर मूर्छित हो गयी। नारद ने उसे जोरों से पकड़ लिया, परन्तु अन्ततः वह भी बह गई। एकाकी नारद अपनी पत्नी तथा बच्चों के लिए शोक से व्याकुल हो गये और बिलख-बिलख कर रोने लगे।

ऐसे समय भगवान ने आकर कहा, "क्यों नारद, आधे घण्टे पहले तुम पानी लाने गये थे और मैं तब से प्यासा खड़ा हूँ। पानी कहाँ है? और तुम रो क्यों रहे हो?"

भगवान के दर्शन पाकर नारद बड़े विस्मित हुए और सारी बात उनकी समझ में आ गई। वे बोले, "प्रभो, मैं समझ गया। आपको प्रणाम और आपकी माया को भी प्रणाम !"

– ५० –

सोना मिट्टी और मिट्टी सोना

किसी गाँव में एक बड़ा ही धार्मिक तथा निष्ठावान परिवार रहता था। जीवन का तीसरा पन आ जाने पर पति-पत्नी दोनों ने संसार से विरक्त होकर वानप्रस्थ ग्रहण किया और घर-द्वार छोड़कर कई वर्षों तक विभिन्न तीर्थों की यात्रा करते हुए भ्रमण करने लगे।

एक बार चलते-चलते पति थोड़ा आगे निकल गया था। उसने एक स्थान पर राह में एक बहुमूल्य हीरा पड़ा हुआ देखा। पत्नी कुछ पीछे थी। उस व्यक्ति ने अपने मन में विचार किया कि कहीं इस हीरे को देखकर मेरी पत्नी के मन में लोभ पैदा न हो जाए! अत: वह तत्काल ही उसे ढँकने के लिए धूल उठाकर उस पर डालने लगा।

इतने में पत्नी भी पास आ पहुँची। उसने पूछा, "यह धूल-मिट्टी लेकर क्या कर रहे हो?" पति से कुछ कहते न बना। पत्नी ने शंका-निवारणार्थ स्वयं उस स्थान से धूल हटाकर देखा। मिट्टी के नीचे दबे हुए हीरे को देखते ही सारी बात उसकी समझ में आ गयी। उसने अपने पति की ओर उन्मुख होकर कहा, "अच्छा, तो अब भी तुम्हारे मन में हीरे और मिट्टी के बीच भेदबुद्धि बनी हुई है! यदि ऐसा ही था, तो फिर तुम घर-बार त्यागकर निकले ही क्यों!"

– ५१ –

ढोंग का फल

एक गाँव में एक गरीब मछुआरा निवास करता था। वह तालाब में मछलियाँ पकड़कर अपने परिवार का गुजारा किया करता था। धीरे-धीरे उसका परिवार बढ़ता गया और उसके लिए सबका गुजर-बसर करना कठिन होता गया। कभी-कभी तो उसके घर में फाँकेबाजी तक की नौबत आ जाती।

एक दिन जब उससे अपने बाल-बच्चों का कष्ट नहीं देखा गया, तो वह रात के समय चोरी-चोरी जमींदार के बगीचे में घुसा और उसके तालाब से मछलियाँ पकड़ने लगा। जमींदार को सूचना मिली की बगीचे में चोर घुसा है, तो उसने लोगों को इकट्ठा करके अपना बगीचा घेर लिया। इसके बाद वे लोग मशाल जलाकर चोर को ढूँढ़ने लगे।

इधर मछुए ने जब यह सब देखा, तो उसके होश उड़ गये। वह अब स्वयं ही जमींदार के जाल में फँस चुका था। उसने सोचा कि भागने का तो कोई उपाय नहीं और पकड़े जाने पर ये लोग मार-मारकर भरता बना देंगे। अँधेरे में चलते हुए उसका पाँव एक किनारे पड़ी राख की ढेरी से टकरा गया। सहसा उसकी बुद्धि में आत्मरक्षा का एक उपाय सूझ गया। उसने झट से थोड़ी-सी राख उठाकर अपने शरीर पर मल ली और लंगोटी मात्र पहने साधु के वेश में एक पेड़ के नीचे विराज गया। लोगों को बहुत खोज-तलाश के बाद भी चोर का कोई अता-पता नहीं मिला, दिखा तो बस एक पेड़ के नीचे एक साधु जो भभूत रमाए ध्यानमग्न बैठा हुआ है। अगले दिन पूरे गाँव में खबर फैल गई कि अमुक के बगीचे में एक बड़े भारी सिद्ध महात्मा आए हुए हैं। फिर क्या था, झुण्ड-के-झुण्ड लोग फल-फूल, मिठाई आदि लिए साधु के दर्शन करने को आने लगे। वे लोग महात्मा को भेंट में रुपये-पैसे भी चढ़ाकर प्रणाम करते। मछुए ने विचार किया – "कितने अचरज की बात है! मेरे नकली साधु होने पर भी जब लोगों की मुझ पर इतनी श्रद्धा-भक्ति है, तो फिर सचमुच का साधु बन जाने पर मुझे निश्चित रूप से भगवान भी मिल जायेंगे।"

श्रीरामकृष्ण कहते हैं – "जब कपट-साधना से ही उसे इतना ज्ञान हुआ, तो सच्ची साधना होने पर तो कोई बात ही नहीं। साधना करके तुम समझ सकोगे कि क्या सत्य है और क्या असत्य। ईश्वर ही सत्य और सारा संसार अनित्य है।"

– ५२ –

जिसने मारा वही दूध पिला रहा है

किसी स्थान पर साधुओं का एक मठ था। मठ के साधु-महात्मा प्रतिदिन गाँव में भिक्षा के लिए जाया करते थे। एक दिन एक साधु भिक्षा के लिए निकले, तो देखा कि गाँव का जमींदार एक गरीब आदमी को खूब पीट रहा है। साधु बड़े दयालु थे। उन्होंने बीच में पड़कर जमींदार को मारने से मना किया। जमींदार उस समय खूब गुस्से में था। उसने अपना सारा गुस्सा साधु पर ही उतारा। उसने साधु को इतना पीटा कि वे अचेत होकर गिर पड़े।

किसी ने मठ में जाकर सूचित किया कि आपके किसी साधु को जमींदार ने बहुत मारा है। सुनकर मठ के साधु दौड़े आए। उन्होंने देखा कि वे साधु बेहोश पड़े हुए हैं। वे लोग उन्हें उठाकर मठ में ले आए और एक कमरे में सुला दिया। साधु बेहोश थे। मठ के लोग शोक-मुद्रा में उनके चारों ओर बैठे थे। कोई पंखा झल रहे थे। तो कोई उनके चेहरे पर पानी छिड़क रहे थे। एक ने कहा, "इनके मुँह में जरा-सा दूध डालकर देखें।" मुँह में थोड़ा-थोड़ा गुनगुना दूध डालने से साधु को होश आया। वे आँखें खोलकर ताकने लगे। किसी ने कहा, "देखें, पूरा होश आया है या नहीं, लोगों को पहचान सकते हैं या नहीं।" यह कहकर उसने ऊँची आवाज में पूछा, "क्यों महाराज, आपको दूध कौन पिला रहा है?" साधु ने धीमे स्वर में कहा, "भाई, जिसने मुझे मारा था, वही अब दूध भी पिला रहा है।" ईश्वर को जाने बिना, पाप-पुण्य के परे गए बिना ऐसी अवस्था नहीं होती। ❑❑❑

आप भी महान बन सकते हैं (४)

स्वामी सत्यरूपानन्द

महानता-प्राप्ति के आधारत्रय

(१) आत्मविश्वास (२) स्वावलम्बन (३) सेवा

जब कभी निराशा के निबिड़ अन्धकार में हमारा मन निराश, हतोत्साही और असहाय हो जाता है, तब ये आधारत्रय परस्पर संयुक्त होकर हमें विपुल आन्तरिक शक्ति प्रदान करते हैं।

(१) आत्मविश्वास

आत्मविश्वास से आप क्या समझते हैं? अपनी स्वयं की क्षमता पर विश्वास करना, अपनी योग्यता एवं शक्ति पर विश्वास करना आत्मविश्वास है। यह विश्वास करना कि मैंने जो कार्यभार लिया है, उसमें सतत् लगे रहने और उसे पूर्ण करने की क्षमता मुझमें है। आत्मविश्वास की जननी है क्रियाशीलता। जब तक मैं क्रियाशील नहीं होता या कार्य नहीं करता तब तक मुझे कैसे ज्ञात होगा कि मैं कुछ करने के योग्य हूँ?

जो भी योजना आपने बनायी है उसे तत्काल ही शुरू करें।

न्यूनतम से प्रारम्भ करें तथा सरलतम का अभ्यास करें। मान लें, आपका शरीर सुविकसित एवं सबल, सशक्त नहीं है। आप जानते हैं कि जीवन में सफलता प्राप्ति हेतु व्यक्ति को अवश्य ही सुविकसित और सशक्त शरीर चाहिए। इसलिए आपको भी यह अवश्य चाहिए। इसके लिए नियमित व्यायाम और सन्तुलित भोजन की आदत डालना आवश्यक है। यदि प्रारम्भ में ही आप कठिन व्यायाम आरम्भ करें, तो आपका शरीर इसे सहन नहीं कर पायेगा और आप कभी भी सफल नहीं हो सकेंगे। उसी प्रकार, यदि आप अपने भोजन की आदत को एक दिन में ही नियमित कर लेना चाहेंगे, तो आप कभी भी सफल नहीं होंगे। इसलिए व्यायाम की उन क्रियाओं को सीख लें, जिसे आप सहजता से कर सकते हैं तथा उस व्यायाम को सहजतापूर्वक करना प्रारम्भ करें। तब निरन्तर एवं धीरे-धीरे इन व्यायाम की क्रियाओं को बढ़ाते चलें, जिससे आपका शरीर उनका अभ्यस्त हो जाय एवं आप अधिकाधिक शक्ति-संग्रह कर सकें।

मान लें, हम किसी विषय पर अधिकार करना चाहते हैं। जैसे – दर्शन, मनोविज्ञान या अन्य कोई विषय, जो महत्वपूर्ण एवं उपयोगी हो, किन्तु हम उस विषय से परिचित न हों।

अब यदि हम उस विषय की प्रारम्भिक पुस्तक लेने के बदले कोई उच्च स्तरीय पुस्तक लेकर पढ़ना शुरू करें, तो उससे हमें न केवल कठिनाई होगी, अपितु हम उस विषय को ग्रहण भी नहीं कर पायेंगे। सबसे सरल विधि है – उस विषय की प्रारम्भिक पुस्तक लेकर विषय से अवगत हों, फिर धीरे-धीरे उच्चतर पाठ्य-पुस्तकों को पढ़ें। इस प्रकार उस विषय में निपुण होने की यह सरल व सहज विधि होगी। यह विधि जीवन के सभी क्षेत्रों में उपयोगी है।

(२) स्वावलम्बन

स्वावलम्बन से आप क्या समझते हैं? आइये, अब हम देखें कि अपने लक्ष्य की प्राप्ति हेतु बिना किसी बाहरी व्यक्ति की सहायता के हम स्वयं क्या कर सकते हैं। मान लें, आप अँग्रेजी के विद्वान बनना चाहते हैं। लेकिन अँग्रेजी सीखने के लिए न अँग्रेजी-कोचींग की कक्षा सुलभ है, न ही अन्य कोई सुविधाएँ हैं। यहाँ तक कि वहाँ शिक्षक तक उपलब्ध नहीं हैं। तब हम कैसे अपनी सहायता कर सकते हैं? आप किसी पुस्तकालय में जाइये और 'स्वयं-शिक्षक' वाली पुस्तकों को खोजिये। शब्दकोश की सहायता लीजिये। अँग्रेजी में कुछ पढ़ें। व्याकरण की सहायता लें। किसी ऐसे मित्र को पकड़ें, जो आपसे थोड़ी अच्छी अँग्रेजी जानता हो। इस प्रकार आप अपनी स्वयं की सहायता कर सकते हैं।

(३) सेवा

परोपकार करना, दूसरों की सेवा करना महानता प्राप्ति का राजमार्ग है। स्वामी विवेकानन्द ने कहा है – "केवल वे ही जीते हैं, जो दूसरों के लिए जीते हैं, शेष तो जीवन्मृत हैं।"

पुन: स्वामी जी कहते हैं – "विस्तार ही जीवन एवं संकुचन ही मृत्यु है।"

सेवा से हृदय उदार और विशाल होता है तथा हृदय में उदारता आने से, हृदय विस्तृत होने से जीवन का विस्तार होता है। जब भी हम किसी दूसरे की संवेदना का अनुभव करते हैं, तब हम शीघ्र ही महानता प्राप्ति की ओर अग्रसर होने लगते हैं एवं अन्तत: पूर्णता प्राप्त कर लेते हैं।

यहाँ मैं इस तथ्य की ओर आपका ध्यान आकर्षित करना चाहूँगा कि यहाँ जो भी चर्चा हो रही है, उन सभी व्यावहारिक सुझावों का क्रमश: अनुसरण करना आवश्यक नहीं है। आप अपनी सुविधा और आवश्यकतानुसार जो आपके मन के अनुकूल हो, उसका आचरण कर सकते हैं। यहाँ चर्चा के क्रम में जो द्वितीय या तृतीय है, वह आपके लिए प्रथम भी हो सकता है। यह विद्यार्थी की मनोदशा पर निर्भर करता है कि वह किस अवस्था में है। किसी विद्यार्थी के लिए धैर्य, अध्यवसाय और पवित्रता पहले आ सकते हैं , तो किसी विद्यार्थी के लिए आधारत्रय – आत्मविश्वास, स्वावलम्बन और सेवा पहले आ सकते हैं।

सर्वश्रेष्ठ धन

सर्वस्व दाता परमात्मा ने इस सर्वश्रेष्ठ धन को सभी मनुष्यों – भिखारी से राजा तक – को समान रूप से प्रदान किया है। इस जगत का सब कुछ इसी में जन्म लेता है, इसी में विकसित होता है और अन्त में इसी में विनष्ट तथा विलीन हो जाता है।

आप आश्चर्य कर रहे होंगे कि यह कौन सा धन है, जिसमें चीजें विनष्ट भी हो जाती हैं। यह महान धन हमें अविनश्वर, अविनाशी बनने का सुयोग भी देता है। यह आश्चर्यचकित करने वाला धन है – समय, काल।

इस दृष्टि से भी देखें कि जीवन एक सुअवसर है, जो हमें सीमित समय और सीमित ऊर्जा के साथ प्राप्त है।

इसका क्या तात्पर्य है? जिस दिन, जिस समय हमने जन्म लिया, उसी दिन, उसी समय हमारी मृत्यु भी निश्चित हो गयी। मान लें, हम सौ वर्ष जीवित रहेंगे। हमारा जीवन-काल इतना ही है। ठीक उसी तरह, हमें एक निश्चित मात्रा में अव्यक्त ऊर्जा भी प्राप्त है। एक शिशु में भविष्य में अभिव्यक्त होने वाली अव्यक्त ऊर्जा विद्यमान है। हमारे जन्म से लेकर किशोरावस्था तक (१५-१६ वर्ष तक) हमें प्राप्त समय और ऊर्जा के महत्व से हम प्राय: अनभिज्ञ रहते हैं। इसलिए सामान्यत: हम उनके प्रयोग एवं दुरुपयोग के प्रति उत्तरदायी नहीं हैं। हमारा दायित्व तब प्रारम्भ होता है, जब हम अपने अन्तर्निहित समय और ऊर्जा की महत्ता से परिचित होते हैं। हमारी जीवन की सफलता और असफलता हमें प्राप्त इस खजाने के सदुपयोग और दुरुपयोग पर निर्भर है, जो सबको समान रूप से प्राप्त है।

(१) जीवन समाप्ति की ओर है

थोड़ा विचार करने पर ही हमें ज्ञात हो जायेगा कि समय और ऊर्जा बड़ी तीव्रता से समाप्ति की ओर दौड़ रहे हैं। हमारा उन पर कोई नियन्त्रण नहीं है। आप अपनी घड़ी में सेकेण्ड वाली सूई को देखें कि कितनी तेज वह दौड़ रही है ! मान लीजिए, आपके पास एक घड़ी है, जो सेकेण्ड के साठवें भाग को बतलाती है। तो आप कल्पना कर सकते हैं कि आपकी घड़ी की सेकेण्ड की सूई कितनी तेजी से दौड़ेगी। मित्रो, समय तीव्रतम से अधिक तीव्रतम दौड़ रहा है।

अब ऊर्जा पर विचार करें। यह एक क्षरणशील सत्ता है। एक व्यक्ति के पास जो शक्ति और ऊर्जा २५ वर्ष की अवस्था में थी, क्या ५० वर्ष की अवस्था में भी उतनी ही शक्ति और ऊर्जा रह सकती है? ऐसा संभव नहीं है। इससे पता चलता है कि शक्ति और ऊर्जा अनवरत क्षीण होती जा रही है, जिस पर हमारा कोई नियन्त्रण नहीं है। एक दिन व्यक्ति वृद्ध होगा और समय तथा ऊर्जा दोनों को पूर्णत: खोकर मृत्यु को प्राप्त होगा। तब हम किस प्रकार अपने प्राप्त समय और ऊर्जा इन दोनों का सदुपयोग करें? इस पर गम्भीरता से विचार करें, तभी हमारे हृदय में यह रहस्य उद्घाटित होगा। यद्यपि क्षीण हो रही ऊर्जा और समय पर हमारा कोई नियन्त्रण नहीं है, किन्तु तब भी हम जिस दिशा में भी चाहें इनका उपयोग करने में पूर्ण स्वतन्त्र हैं। जरा इस दृष्टि से देखें। पचास वर्ष पहले लाखों लोग भारत में पैदा हुये। उनमें से कुछ लोग साधु-संत हैं, कुछ लोग प्रकाण्ड विद्वान हैं, कुछ लोग सामान्यत: अच्छा जीवन यापन कर रहे हैं। लेकिन उनमें से कुछ ऐसे भी लोग हैं, जो चोर, बदमाश, डाकू, गुंडा और समाज-विरोधी हो गये हैं। अब यह देखें कि उतनी ही सीमित ऊर्जा और समय में ये विभिन्न प्रकार के लोग निर्मित हुए हैं। एक व्यक्ति विद्वान कैसे हुआ? क्योंकि उसने अपने प्राप्त समय और ऊर्जा का सदुपयोग कर लिया। एक व्यक्ति सन्त कैसे बना? उन्होंने भी उसी समय और ऊर्जा का सदुपयोग कर लिया। चोर और अन्य बुरे लोगों के साथ क्या हुआ? वे चोर और दुर्जन कैसे बनें? उन लोगों ने प्राप्त ऊर्जा और समय का सदुपयोग नहीं किया।

इससे स्पष्ट प्रतीत होता है कि हमें समय और ऊर्जा के उपयोग करने की पूर्ण स्वतन्त्रता है। इसलिए युवावस्था में, अपनी जीवन-वृत्ति के प्रारम्भ में ही हमें बहुत सावधान रहना चाहिए कि हम इन समय और ऊर्जा की अमूल्य निधि का कैसे और क्या उपयोग कर रहे हैं।

आप अभी अपने जीवन का लक्ष्य निर्धारित करें कि आप जीवन में क्या बनना चाहते हैं?

(२) परम आयोजन

हम समय और ऊर्जा की अमूल्य निधि का उपयोग कैसे करें, आप अपने समय का सुनिश्चित आयोजन करें। स्मरण रखें कि आप इनका संग्रह नहीं कर सकते हैं, किन्तु इनका सदुपयोग अवश्य कर सकते हैं, अन्यथा ये नष्ट हो जायेंगे। इन समय और ऊर्जा का अधिकांश अंश आप अपने जीवन के चरम लक्ष्य की प्राप्ति में लगावें। इसके लिए यह आवश्यक है कि आप अपने जीवन के लिए प्राथमिकतायें निर्धारित कर लें। सर्वोच्च प्राथमिकता आत्मविकास को ही देना चाहिए। जैसे - स्वयं को श्रेष्ठतर बनाना है, स्वयं को महान बनाना है। सर्वोच्च प्राथमिकता को दृष्टि में रखकर अन्य बातों की प्राथमिकता देनी चाहिए।

(३) मिनटों में जियें

सभी व्यावहारिक कार्यों के लिए हमारा जीवन जब हम प्रात: उठते हैं, तब से प्रारम्भ होता है। इसलिए हम अपनी दिनचर्या प्रात: बिस्तर से उठने से लेकर रात को सोने तक

शेष अगले पृष्ठ पर

आत्माराम की आत्मकथा (१३)

स्वामी जपानन्द

(रामकृष्ण संघ के एक वरिष्ठ संन्यासी स्वामी जपानन्द जी (१८९८-१९७२) श्रीमाँ सारदादेवी के शिष्य थे। स्वामी ब्रह्मानन्द जी ने उन्हें संन्यास-दीक्षा प्रदान की थी। भक्तों के आन्तरिक अनुरोध पर उन्होंने बँगला भाषा में श्रीरामकृष्ण के कुछ शिष्यो तथा अपने अनुभवों के आधार पर कुछ प्रेरक तथा रोचक संस्मरण लिपिबद्ध किये थे। डॉ. डी. भट्टाचार्य कृत इसके हिन्दी अनुवाद की पाण्डुलिपि हमे श्रीरामकृष्ण कुटीर, बीकानेर के सौजन्य से प्राप्त हुई है। अनेक बहुमूल्य जानकारियों से युक्त होने के कारण हम इसका क्रमश: प्रकाशन कर रहे है। इसके पूर्व भी हम उनकी दो छोटी पुस्तकों – 'प्रभु परमेश्वर जब रक्षा करें' तथा 'मानवता की झाँकी' का धारावाहिक प्रकाशन कर चुके हैं – सं.)

(गंगोत्री से तेरह मील नीचे स्थित) उस गाँव में एक नागा साधु रहते थे। एक भयंकर दुर्गन्धपूर्ण छोटी-सी झोपड़ी में वे छह साल से रहते थे। छह वर्षो से अन्न ग्रहण न करने के कारण उनके शरीर की हड्डी-पसली निकल आई थी। एक प्रकार की पहाड़ी जड़ी-बूटी खाकर ही वे जीवित थे। बारह वर्ष अन्न स्पर्श नहीं करेंगे – ऐसा व्रत लिया था। बैठने की उनमें बिल्कुल भी क्षमता न थी। इस कारण वे चलते नहीं थे, सर्वदा लेटे ही रहते थे और चरस के दम लगाते थे। दिन में कई बार उसकी जरूरत होती थी। गरीब पहाड़ियों को वे और कुछ तो नहीं सिखा सके, लेकिन चरस पीना खूब सिखा दिया था। उनका दर्शन करने उनके बिस्तर के पास जाकर पूछा – "कुछ क्रिया करते हैं क्या?" उन्होंने बताया – "हठयोग की अमुक क्रिया करता हूँ।" जो बूटी वे खाते थे, वे आकार में छोटी थीं, देखने में हल्दी जैसी और अन्दर से लाल, खाने में मीठी थीं। कहते थे कि उसे खाने से भूख नहीं लगती, लेकिन मुझे काफी भूख लगी।

शाम को एक पहाड़ी ने करीब आधा सेर उबले हुए आलू दिये। उस दिन उसी को खाकर रहा। पिछले साल से पहाड़ों में फसल अच्छी नहीं हुई थी। किसी गाँव में थोड़ी-बहुत हुई और किसी में कुछ भी नहीं। जो थोड़ा-बहुत हुआ था, उसे महँगी कीमत पर बेच दिया गया था, अत: गाँव में सभी आलू उबालकर खाते थे। मैं भी कुछ दिन आलू खाकर रहा। फिर मन में आया कि यह इन गरीब लोगों का कितने कष्ट से जुटाया हुआ आहार है, मुझे खुशी से देते हैं, परन्तु इनके अन्नाभाव की बात जानकर भी मेरा यह खाना उचित है क्या? यदि माँ की इच्छा हुई, तो जब उनके पास अन्न रहेगा, फिर आऊँगा। वे लोग मुझसे रहने के लिए आग्रह करने लगे, पर मन नहीं माना। पुन: उत्तरकाशी की ओर चल पड़ा।

पहाड़ी लोग, विशेषकर गढ़वाली बड़े धर्मभीरु होते हैं। शिव-विष्णु तो हैं ही, पर अधिकांश राजपूत होने के कारण उनके उपास्य देवी-देवताओं में माँ-काली भी एक हैं। माँ के समक्ष ये लोग बलि भी चढ़ाते हैं। दूसरे देव-देवियों की

पिछले पृष्ठ का शेषांश

की बनायें। घंटों को केवल मिनटों में ही पकड़ा जा सकता है। अत: सविस्तार अपने लिए मिनट-मिनट के कार्यक्रम बना लें। आप सहायता दूसरों से ले सकते हैं, लेकिन अन्तिम निर्णय आपको ही लेना है कि आप किस कार्य के लिए कितना समय देंगे। आपकी सुविधा के लिए यहाँ कुछ परामर्श प्रस्तुत किये जा रहे हैं –

(१) सर्वोच्च प्राथमिकता अपने शारीरिक और मानसिक स्वास्थ्य को दी जानी चाहिए। आप अपने दिन का प्रारम्भ थोड़ी प्रार्थना या अन्य आध्यात्मिक साधना और प्रेरणादायी विचारों के पठन से करें। यह मानसिक स्वास्थ्य के लिये उपयोगी होगा। अब यह आपको निर्धारित करना है कि आप इसके लिये कितना समय दे सकते हैं।

(२) आपको अनिवार्य रूप से कुछ शारीरिक व्यायाम करना चाहिए।

(३) चूँकि आप सभी विद्यार्थी हैं, इसलिए आपको तीसरी प्राथमिकता अपने अध्ययन को देनी चाहिए। अपनी शिक्षा पूर्ण होने तक आपको अपना अधिकांश समय अपने अध्ययन में ही लगाना चाहिये। आप इस बात का विशेष ध्यान रखें कि आपकी दिनचर्या में विश्राम तथा शयन के लिये भी पर्याप्त समय निर्धारित रहे।

(४) अपनी दिनचर्या पर दृष्टि डालें

सोने के पूर्व अपने दिन भर के किये गये कार्यों का निरीक्षण करें कि कैसे आपने अपने समय और ऊर्जा का उपयोग किया है।

(५) अपनी शक्ति और ऊर्जा का संरक्षण करें

अपने समय का बजट बनाने के बाद अपनी ऊर्जा का भी बजट बनायें। अपनी ऊर्जा का अपव्यय निरर्थक कार्यों एवं अनावश्यक क्रिया-कलापों में न करें। क्योंकि आपको सीमित मात्रा में ऊर्जा प्राप्त है और केवल आप ही निर्णय ले सकते हैं कि किस उपलब्धि या उद्देश्य के लिये आप इसका उपयोग करेंगे। सर्वदा ध्यान रखें कि जब तक आप अपनी ऊर्जा के संरक्षण हेतु सावधान नहीं होते और इसका सर्वोच्च लक्ष्य के लिये उपयोग नहीं करते, यह नष्ट होगी ही, आप चाहें या न चाहें। ❖ (समाप्त) ❖

अपेक्षा भूत-प्रेत की पूजा का कहीं अधिक प्रचलन है और इन (भूत-प्रेतों) का अत्याचार भी वहाँ बहुत अधिक है। उनमें से कुछ की धारणा है कि खून चढ़ाये बिना ये देवता सन्तुष्ट नहीं होंगे। या फिर वे लोग एक छोटे-से पत्थर या फिर कपड़े के टुकड़े से ही वे सन्तुष्ट हो जाते हैं।

मैदानी अंचल से जितना ही हिमालय प्रदेश की ओर जाओ, पहाड़ी लोग उतने ही अच्छे होते हैं। वे न तो झूठ बोलते हैं और न ही चोरी करना जानते हैं। इसका प्रमाण यह है कि पहाड़ी अंचलों में ग्रामवासी अपने मकानों में ताले तक नहीं लगाते। वे अपनी जबान के पक्के होते हैं अर्थात् जो कहते हैं, उसे यथासाध्य पूरा करने का प्रयास करते हैं। डाकू भी हैं, पर अधिकांश तिब्बती हैं। पूरे निरक्षर होने के बावजूद पहाड़ी लोग बड़े होशियार होते हैं। उन्हें कोई बात समझने में ज्यादा देर नहीं लगती। बातचीत में भी काफी बुद्धिमान होते हैं, पर धारणा-शक्ति मध्यम होती है। वे शरीर से मजबूत, देखने में सुन्दर होते हैं और कष्ट सहने के आदी होते हैं।

पहाड़ी महिलाएँ पुरुषों की अपेक्षा अधिक कष्ट सहनेवाली, मेहनती और सुन्दर होती हैं। अच्छे घर की महिलाएँ और भी सुन्दर हैं। उनकी आँखें बड़ी सुन्दर होती हैं जिन्हें 'देवी-चक्षु' कहते हैं। कई महिलाओं का रंग कच्चे सोने की भाँति, गौरी के जैसा होता है। चरित्र का मापदण्ड जगह-जगह बदलता रहता है। कहीं-कहीं हमारी तरह का ऊँचा आदर्श होता है, कहीं थोड़ा ढीला-ढाला और कहीं तो बहुत ही ढीला। विवाह आदि मुसलमानों के समान अपने निकट सम्बन्धियों में ही होता है, लेकिन सौतले भाई-बहनों में नहीं होता। विधवा-विवाह कहीं होता है, कहीं नहीं होता और कहीं बिना विवाह किये ही स्त्री को घर में रखने की प्रथा है। समाज इसकी अनुमति देता है और सन्तान आदि होने पर, समाज में उनका स्थान थोड़ा नीचा होता है। मृत्यु के पश्चात् कोई-कोई थोड़ा-बहुत श्राद्ध आदि भी करते हैं और कोई-कोई नहीं करते। ...

महिलाओं का पहनावा बड़ा सभ्य है। दिखने में बड़ा सुन्दर लगता है। ऊपर की पहाड़ी महिलाएँ सर्वदा एक कम्बल या वैसा ही कोई ऊनी कपड़ा पहनती हैं, सिर कभी खाली और कभी एक छोटे-से रूमाल से बँधा रहता है। या ऊपर चादर के समान एक छोटी ओढ़नी से ढँके रहती हैं। पुरुष लोग सर्दी में या कहीं सभा में जाते समय पैंट, नहीं तो सिर्फ लंगोटी पहनते हैं और ऊपर से एक गमछा लपेटे घूमते रहते हैं। बंगाली लोग काफी आचार मानते हैं। कुमाउनी पहाड़ी लोग भी आचारी होते हैं। वे लोग भोजन पकाते समय एक छोटा-सा वस्त्र पहनते हैं। सूत के बने कपड़ों को शुद्ध और ऊन के वस्त्रों को अशुद्ध मानते हैं। इसीलिए पुजारी लोग भोजन बनाना या खाना आदि करते समय सूती वस्त्र का उपयोग करते हैं। हमारे यहाँ इसका ठीक उल्टा होता है। हम ऊन या रेशम के वस्त्रों को सदा शुद्ध मानते हैं और उन्हें नित्य धोने की जरूरत नहीं समझते। पहाड़ी लोग भी रेशम को शुद्ध मानते हैं। गुजरात, काठियावाड़ में यदि रेशम के वस्त्र पर जूठा भी लग जाय, तो भी वह शुद्ध रहता है। जब तक वह पूरी तौर से फट नहीं जाता, वे उन्हें उतारते नहीं। इसे वे पूजा और भोजन करते समय उपयोग में लाते हैं। पहाड़ियों की अवस्था भी लगभग वैसी ही है। वे सूती कपड़ों का इसी तरह उपयोग करते हैं। ... सभी लोग अपनी-अपनी स्थानीय प्रथा और विश्वास को ही शुद्ध तथा पवित्र मानते हैं – यह मानवीय दुर्बलता है।

इस शुद्धि-अशुद्धि के बारे में एक घटना याद आ रही है – एक बार मैं पंजाब के लुधियाना जिले के एक गाँव में एक नानकपन्थी साधुओं के आश्रम में अतिथि बना था। आहार के बाद सब अपनी-अपनी थाली माँजने लगे, मैंने भी अपनी थाली भलीभाँति माँजी और तीन-चार बार पानी से धोकर उसे यथास्थान रखने गया। वहाँ उस विभाग के प्रभारी एक सिक्ख खड़े थे, बोले – "आपकी थाली जूठी है, साफ नहीं हुई।" मैंने थाली को इधर-उधर घुमाकर देखा और कहा – "कहीं भी तो जूठन नहीं है। मैंने खूब धोया है।" तो उसने थाली लेकर सूखी राख से माँजकर एक मैले कपड़े से पोछने के बाद कहा – "इसको साफ करना कहते हैं। देखिये, कैसी चमक रही है?" पानी लगा रहने पर, लोग बरतन को जूठा समझते हैं। सुनकर पहले तो मुझे आश्चर्य हुआ, लेकिन फिर मैंने सोचा इसे यहाँ का 'देशाचार' समझकर स्वीकार कर लिया। जहाँ पानी कम होता है, वहाँ ऐसे ही करते हैं। बंगाल में जल का बाहुल्य होने से वहाँ धोने की प्रथा है।

उत्तरकाशी आते समय रास्ते में प्रत्येक गाँव में रहने तथा भिक्षा आदि की सुविधा खोजता हुआ आ रहा था। पर भाग्य ऐसा था कि मैं जैसा चाह रहा था, वैसा नहीं मिल रहा था। कहीं अन्न का अभाव था, तो कहीं अपनी पसन्द के अनुसार रहने का स्थान नहीं मिलता था।

वर्षा बड़े जोर-शोर से शुरू हो गयी थी। रास्ता बड़ा खराब हो रहा था। नदियों में पानी भर गया था। एक जगह पर तो नदी में इतना पानी भर गया था और वह इतने वेग से बह रहा था कि उसे पार करना भी मुश्किल हो गया था। नदी के इस पार के भूटिया लोगों ने ३-४ दिन बाद पानी का स्तर घट जाने पर उस पार जाने को कहा था। मेरे साथ और भी एक पंजाबी तथा एक दक्षिणी साधु थे। उनसे रास्ते में भेंट हुई थी। दोनों ही खूब लम्बे तथा बलिष्ठ थे। नदी के थोड़ा आगे जाकर वे लोग पार होने लगे। वे लोग जब बीचो-बीच में पहुँचे, तो भी जल को उनके कमर तक ही देखकर मुझे भी थोड़ा साहस हुआ। वैसे वे लोग खूब सावधानी के साथ अपने को खूब सँभालते हुए पार कर रहे थे। पानी का वेग बहुत अधिक था। मेरा कद छोटा था और पानी मेरे सीने तक

होगा। फिर मैं तैरना भी नहीं जानता था। और पत्थरों से भरे हुए उस नदी के प्रवाह में तैरना जानने से भी उसकी कोई उपयोगिता नहीं थी। बड़ी देरी हो गयी थी। खूब भूख भी लगी थी। नदी के उस पार एक गाँव दीख रहा था। लौटना हो, तो १२-१३ मील पैदल चलना होगा। इन्हीं सब कारणों से 'जय माँ' कहकर पानी में उतरने का निश्चय किया। जल के निरन्तर सम्पर्क से सभी पत्थर फिसलनदार हो गये थे। प्रवाह इतना भयंकर था कि पाँवों को सीधा रखना तक कठिन होने लगा। किसी प्रकार लगभग आधी दूर तक पहुँचा था। वे दोनों साधु वहाँ खड़े मुझे उत्साहित कर रहे थे – चले आओ, चले आओ, डरने की कोई बात नहीं है। तभी मैं सन्तुलन खोकर गार्ज (महाखड्ड) की ओर बहने लगा। नदी वहाँ से लगभग आधे मील नीचे की ओर उन्मादिनी के समान दौड़ रही थी। उसका वह भयंकर रूप वहाँ से दीख रहा था। 'गया, गया' – चिल्लाते हुए सभी लोग तटस्थ रूप से किंकर्तव्य-विमूढ़ खड़े थे। उस अवस्था में भला कौन क्या कर सकता है। कौन भला स्वेच्छापूर्वक मृत्यु मुख में कूद पड़ना चाहेगा! "गया, गया"। परन्तु कर्मभोग बाकी था और वह इतनी जल्दी इस देह का बन्धन से मुक्ति देने को तैयार न था। मैं बहते-बहते अनजाने ही हाथ-पाँव हिलाते हुए किनारे की ओर आने की चेष्टा कर रहा था। तैरना तो आता नहीं था, तो भी सम्भवत: सहज संस्कार से, स्पष्ट रूप से जीवन या मृत्यु – कोई भी इच्छा मन में उदय न होने पर भी, सम्भव है कि सूक्ष्म रूप से जीवन-रक्षा का वह प्रयास चल रहा था। सन्तुलन बिगड़ते ही मैं 'ॐ' कहकर चिल्लाकर डूब गया था। उसके बाद गार्ज (महाखड्ड) के खूब निकट जाकर जब किनारे लगा, तब तक मन की अवस्था बिल्कुल शून्य थी। हाथ की बड़ी लाठी टेढ़ी पकड़ी हुई थी। वह जाकर पत्थर के एक बड़े बोल्डर से लगी और इससे मैं ऊपर की ओर फेंक दिया गया था। किनारे लगते ही उठ पड़ा। ज्यादा नहीं, थोड़ा-सा ही पानी पेट में गया था। फिर किसी प्रकार की चोट भी नहीं लगी थी। आश्चर्य की बात यह है कि अपने सम्बल-रूप कम्बल तथा लाठी हाथ में लिये पानी में उतरा था, तब भी उन्हें वैसे ही पकड़े हुआ था। वस्तुतः कुछ भी खोया नहीं था। मैं स्वयं ही विस्मित था। हाथ-पाँव हिलाने के बावजूद ये चीजें कैसे बची रह गयीं।

इसी बीच पूर्वोक्त दोनों साधु मेरे पास चले आये और कुशल पूछने लगे। ठीक हूँ – देख और जानकर वे अपने गन्तव्य पथ पर चले गये। उस पार दो भूटिया लोग भी नदी के किनारे-किनारे दौड़े थे कि शायद किसी काम आ जायँ और यह देखने के लिए कि अन्तिम परिणति क्या होती है। और उनके बाल-बच्चे भी अकड़कर किंकर्तव्य-विमूढ़ खड़े-खड़े मेरी हालत देख रहे थे। मेरे किनारे चढ़ जाने पर लोग हाथ हिलाकर आनन्दसूचक ध्वनि करने लगे। मैंने उनकी इस सहानुभूति के लिए हाथ जोड़कर उनके प्रति नमस्कार किया।

इसके बाद लगभग घण्टे भर वहीं एक शिलाखण्ड पर बैठा रहा। कम्बल आदि धूप में सूखने को डाल दिया। इसके बाद में धीरे-धीरे गाँव में पहुँचा। गाँव का भी एक व्यक्ति पहाड़ के ऊपर से मेरी वह दुर्गति देख रहा था। गाँव थोड़ी ऊँचाई पर स्थित था। वही पहले मेरे पास आया और कुशल आदि पूछकर मुखिया के घर ले गया। उन लोगों ने अन्य लोगों के अनुकरण पर ऐसा दुबारा न करने का उपदेश दिया। रात मैंने उसी गाँव में बितायी। अगले दिन सुबह फिर उत्तरकाशी की ओर चला।

उत्तरकाशी में दो-तीन दिन रहने के बाद, पहाड़ों पर सर्वत्र ही अकाल पड़ा हुआ है, यह सुनकर मन दुखी हो गया। इसके बाद मैंने सोचा – "जब पहाड़ पर आ ही गया हूँ, तो अन्य तीर्थों को भी देखकर ही उतरा जाय। बाद में यदि माँ की इच्छा हुई, तो फिर आऊँगा। कुछ अनुभव तो हो ही रहा है।" इसके बाद निश्चय किया कि वहाँ से त्रियुगी-नारायण होकर केदारनाथ का रास्ता पकड़ूँगा। भाग्य में दुख रहने पर जो होता है, मेरे साथ भी वही हुआ। इसीलिए साधारणत: जिस रास्ते से यात्री त्रियुगी-नारायण की ओर जाते हैं, उस पर न जाकर मैंने संक्षिप्त मार्ग पकड़ा। बीच में एक चोटी से बूढ़े केदार और गुप्तकाशी का रास्ता पकड़ा, एक स्थान पर लगभग नौ मील चढ़ाई करके बूढ़े केदार (या आदि केदार) जो कानफटे नाथ-पन्थियों का एक बहुत बड़ा केन्द्र है। पता चला कि ये नाथपन्थी लोग सभी गृहस्थ हैं।

पहले दिन से ही कष्ट शुरू हुआ। भयंकर वर्षा होने लगी। शाम के समय एक छोटी-सी चट्टी में पहुँचा। वहाँ कुछ खर की झोपड़ियाँ मात्र थीं और करीब दो सौ स्त्री-पुरुष यात्री थे। तिल रखने को भी जगह न थी। (इस चट्टी का नाम भूल गया हूँ, प्रथमत: तो अनावश्यक समझकर कभी नाम पूछता ही नहीं था और द्वितीयत: जो सुना था, वह भी विस्मृत हो गया है।) गंगोत्री के मुख्य मार्ग के ऊपर जिस चट्टी से पगडण्डी शुरू हुई है, उसी को पकड़कर मैं संध्या के समय पहले पड़ाव पर पहुँचा।

अन्य यात्री वहाँ पहले से ही पहुँचकर जगह छेककर बैठे थे। सभी गृहस्थ थे और उनमें स्त्रियों की संख्या ही अधिक थी। अहमदाबाद की एक पार्टी थी, जिसमें अस्सी लोग थे और उनमें से लगभग पचास स्त्रियाँ थीं। वे सभी अलग-अलग चूल्हे पर रसोई का कार्य शुरू कर चुकी थीं। संन्यासी को वहाँ भला कौन जगह देता? सारे रास्ते उसे भीगना पड़ा था। साथ में सिर्फ एक कम्बल ही था और उससे छाते का काम लेने से वह भी भीगकर फूल चुका था। नीचे बिछाने को कुछ नहीं था और उस सर्दी में तन ढँकने को भी पास में

कुछ नहीं था। बैठने को भी जगह न थी और पैसे भी नहीं थे कि आग तापने के लिए लकड़ी आदि खरीद सकूँ। कृष्ण पक्ष की रात थी। थोड़ी-थोड़ी वर्षा तब भी जारी थी। "कहाँ जाऊँ माँ" – मन में यही भाव आ रहा था। कुछ भी ठीक नहीं कर पा रहा था।

दो बहनों ने (जो राजपुताना मेवाड़ के किसी स्त्री-मठ की संन्यासिनी थीं) मेरी यह दुरवस्था देखी और मुझे बुलाकर बैठने को कहा और सामने थोड़ी-सी आग रखकर सेकने को कहा। दोनों ही प्रौढ़ थीं, आयु चालीस के ऊपर रही होगी और तीसरी बार उत्तराखण्ड के सारे तीर्थ कर रही थीं। उन्होंने ऐसा सात बार करने का व्रत लिया था। उनका व्यक्तित्व देखकर तथा बातें सुनकर लगा कि अच्छे (क्षत्रिय) घराने की हैं। बड़ी बहन ने कहा – "स्वामीजी, क्या करोगे, स्थान तो नहीं है। तुम्हारा सब कुछ भीग गया है और यहाँ से दूसरी चट्टी ग्यारह मील दूर है। रास्ता बहुत खराब है, ऊपर से अँधेरी रात है और फिर वर्षा भी हो रही है।" थोड़ी देर चुप रहने के बाद उसने मेवाड़ी भाषा में अपनी बहन से कुछ बातें की और कहा – "यदि तुम्हें कोई आपत्ति न हो, तो तुम हमारे बिस्तर के एक किनारे अपना स्थान बना लो, हम अपना एक कम्बल तुम्हें ओढ़ने को दे देंगी। दूसरा कम्बल हम दोनों ओढ़ लेंगी। इस समय हमारे पास ज्यादा सामान नहीं है। जो खुद ढो सकते थे, वही लेकर आये हैं। इसके सिवाय और कोई उपाय भी नहीं सूझ रहा है – तुम्हारी क्या इच्छा है?" मैंने कहा – "माताजी, तुम्हारी इस दया के लिए बहुत-बहुत धन्यवाद। यह ठीक है कि इसके सिवाय कोई उपाय नहीं है, लेकिन एक बात सोचकर मेरे मन में संकोच हो रहा है कि मनुष्य का मन साधारणतः मलिन होता है। ये जो अन्य गृहस्थ हैं, वे तुम्हारी शुद्ध भावना को न देखकर यदि कोई मलिन भावना लें और तुम्हारे बारे में वैसी कोई बातचीत करें, तो मुझे बड़ा दुख होगा, मेरे लिए सह पाना भी कठिन होगा। इससे अच्छा तो यही होगा कि मैं तुम्हारे पाँवों की ओर बैठा आग तापते हुए रात बिता दूँ। इतनी-सी दया कर दो, यही बहुत होगा।"

माताजी ने (थोड़ा हँसकर) कहा – "यह सत्य है, लेकिन हर समय – लोग क्या कहेंगे या क्या सोचेंगे – यह देखने से संसार में चलना-फिरना ही मुश्किल हो जायेगा। आपको इस अवस्था में देखकर हम विश्राम नहीं कर सकतीं, यह धर्म-विरुद्ध है। हम भी संन्यासिनी हैं, गृहस्थाश्रम के नियम-कानून के अधीन नहीं हैं, लोगों की परवाह हमें नहीं है। यदि तुम्हें कोई खास आपत्ति न हो ...।" इतने में उनके बिस्तर के पास ही लेटी हुई एक प्रौढ़ महिला उठकर कहने लगी – "मैं अपना बिस्तर थोड़ा हटा लेती हूँ, इसी से स्वामीजी के लिये थोड़ी जगह हो जायेगी। महाराज, यात्रा-काल में अपने को मना लेना होता है, इतना आचार-विचार नहीं चलता।" गुजराती होकर भी वे हिन्दी जानती थीं, इसीलिए सब सुनकर समझ गयी थीं। इन वृद्धा माताजी के कथनानुसार ही व्यवस्था हुई। उनका एक कम्बल मैंने लिया और इस संन्यासी के कारण दोनों बहनों ने एक ही कम्बल में बड़े कष्टपूर्वक रात बिताया।

दूसरे दिन एक अन्य चट्टी में पहुँचा। वहीं से वह नौ मील की चढ़ाई शुरू होती है। वहाँ पर भी स्थानाभाव के कारण बड़े कष्ट से रात बितानी पड़ी। उस दिन वहाँ एक मिलवाले ने विशेष निमंत्रण देकर भिक्षा दी थी। उस मिलवाले के साथ उनके एक वृद्ध बड़े भाई भी थे। उनके साथ शास्त्र-चर्चा होने लगी। उन्होंने प्रश्न किया – "महाराज, कर्मवाद क्या सत्य है?" पूछने के बाद वे दूसरों के साथ व्यापार-विषयक चर्चा करने लगे। मैं भी चुप बैठा रहा। फिर पूछा – "महाराज, क्या जन्मान्तर होता है?" इसके भी उत्तर की प्रतीक्षा न करके वे पहले की ही भाँति विषय-चर्चा करने लगे। इसके बाद पूछा – "महाराज, तीर्थ-यात्रा का क्या फल होता है?" मैं पहले की ही तरह चुप बैठा रहा और उनका चंचल स्वभाव देख मन-ही-मन हँस रहा था। फिर उन्होंने कहा – "महाराज, तुम तो कुछ बोल ही नहीं रहे हो, हम संसारी जीवों को कुछ उपदेश ही दे डालो।" मैंने कहा – "तुमने क्या मुझे ग्रामोफोन समझा है कि चाभी भरकर रेकार्ड लगा दोगे और स्वयं बातों में लग जाओगे और मैं बोलता रहूँगा! यदि सुनना चाहते हो तो चुप होकर बैठो, मुझे जो भी आता है, बताने को तैयार हूँ।"

यह सुनकर सेठजी और स्त्रियाँ हँसने लगीं और वे सज्जन बड़े लज्जित हुए। फिर कोई प्रश्न नहीं किया। हाँ, उस समय ठाकुर की यह बात याद आयी – "वह क्या ऐसे ही खाने को देगा, अच्छी तरह नचा लेगा!" ❖ **(क्रमशः)** ❖

मानव-वाटिका के सुरभित पुष्प

डॉ. शरद् चन्द्र पेंढारकर

(अनेक वर्षों पूर्व विद्वान् लेखक ने 'विवेक-ज्योति' के लिए प्रेरक-प्रसंगों की एक शृंखला लिखी थी, जो बाद में पुस्तकाकार प्रकाशित होकर बड़ी लोकप्रिय हुई। अनेक वर्षों के अन्तराल के बाद उन्होंने अब उसी परम्परा में और भी प्रसंगों का लेखन प्रारम्भ किया है। – सं.)

(१३) पतिव्रता का आदर्श

मद्रदेश के राजा अश्वपति ने अपनी पुत्री सावित्री को वय:प्राप्ता जानकर उसका विवाह करने का निश्चय किया। सावित्री की बुद्धि व सौन्दर्य को देख उन्होंने सोचा कि यदि वह स्वयं अपने अनुरूप पति का वरण करे, तो उसके भावी जीवन के लिए यह अच्छा होगा। उन्होंने यह बात सावित्री को बताई और वृद्ध अमात्य को सावित्री के साथ भेजकर विभिन्न देशों में वर ढूँढ़ने को कहा। कई देशों का भ्रमण करने के बाद उन्होंने सादगी तथा सदाचरण के आधार पर शाल्व देश के राजा द्युमत्सेन के पुत्र सत्यवान को पसन्द किया।

वापस आकर अमात्य ने राजा अश्वपति को बताया कि सावित्री ने रूप, शौर्य, सम्पदा आदि को महत्त्व न देकर धर्म-प्राणता और सच्चरित्रता के आधार पर शाल्व देश के राजपुत्र सत्यवान का चयन किया है। राजा ने सोचा कि सावित्री ने जो भी निर्णय लिया है, सोच-समझकर ही लिया होगा।

नारद मुनि से भला यह बात कैसे छिपी रह सकती थी? वे तुरन्त अश्वपति के पास आये और उन्होंने राज्य व परिवार का हाल-चाल पूछा। राजा अश्वपति ने उन्हें सावित्री द्वारा शाल्व देश के राजपुत्र सत्यवान का पति रूप में वरण करने सम्बन्धी बात बताई तथा पूछा कि क्या उसका चयन सही है? उन्होंने उनसे सावित्री तथा सत्यवान का भविष्य बताने की भी प्रार्थना की। नारद मुनि ने बताया – "शाल्व देश के राजा द्युमत्सेन तो इस समय सत्ताच्युत होकर वन में पत्नी तथा पुत्र के साथ तपस्वी का जीवन बिता रहे हैं। और सत्यवान है तो विद्वान्, सदाचारी, धर्मशील तथा पराक्रमी, लेकिन उसके जीवन का अब केवल एक ही वर्ष बचा है। एक वर्ष बाद उसकी मृत्यु अवश्यम्भावी है।"

यह सुनते ही अश्वपति व्यथित हो गये। उन्होंने सावित्री को नारद मुनि के भविष्य-कथन से अवगत कराकर अपना निर्णय बदलने का आग्रह किया। तब सावित्री ने स्पष्ट रूप से कहा, "पिताजी, स्त्री जिसे भी एक बार मन में पति रूप में स्वीकार करती है, उसी के साथ विवाह करती है। वह अपना निर्णय फिर बदलती नहीं। भले ही मेरे भावी पति की एक वर्ष बाद मृत्यु होगी, मैं विवाह उन्हीं के साथ करूँगी। मेरा निर्णय अटल है और उसमें कोई परिवर्तन नही होगा।"

पुत्री का दृढ़ निश्चय देखकर राजा को अन्ततः स्वीकृति देनी ही पड़ी।

(१४) शीलवान की समदृष्टि

राम-रावण युद्ध समाप्त हो चुका था। श्रीराम रावण तथा उसकी सेना का संहार कर चुके थे। हनुमानजी को सहसा माता सीता का स्मरण हो आया। वे तत्क्षण उनके पास गये और उन्हें रावण और उसकी सेना के मारे जाने का समाचार सुनाया। इस पर सीता ने उन्हें आशीर्वाद दिया। हनुमानजी ने कहा, "माँ, आपने सचमुच यहाँ कष्टमय जीवन बिताया है। यहाँ की राक्षसियों ने आपको नाना प्रकार के कष्ट दिये हैं। यदि आप आज्ञा दें, तो मैं उनका भी वध करूँ।"

सीता ने कहा, "यह क्या कहते हो, पुत्र! उनके वध की बात तो तुम्हें सोचनी ही नहीं चाहिये, क्योंकि वे अपनी इच्छा से मुझे सताती न थीं, बल्कि वे तो रावण की दासियाँ थीं, अतः उन्हें अपने स्वामी की आज्ञा का पालन करना पड़ता था। इसमें उनका क्या दोष, जो उन्हें दण्ड दिया जाए!"

हनुमानजी बोले, "माँ, आप नहीं जानतीं, राक्षस-जाति बड़ी दुष्ट होती है, फिर राक्षसियाँ ही अपवाद क्यों होंगी? वे चाहतीं तो रावण की आज्ञा की अवहेलना कर सकती थीं।"

– "नहीं, तुम्हारी सोच गलत है। अपने स्वामी का आज्ञा-पालन हर सेवक का धर्म है। इसमें उनका किंचित् भी अपराध नहीं है। दोष तो मेरे कर्मों का है। क्या मैंने लक्ष्मण को डाँट-फटकार नहीं लगाई थी? क्या मेरा वह कृत्य उचित था? कदापि नहीं, इसीलिए तो मुझे दण्ड-स्वरूप लंकावास सहन करना पड़ा। वास्तव में उन राक्षसियों के सान्निध्य में रहकर मुझे उनसे स्नेह हो गया था। यहाँ से वापस लौटते समय मुझे तो उनके प्रति कृतज्ञता व्यक्त करनी चाहिए।"

हनुमानजी बोले, "माता, आप सचमुच धन्य हैं! शत्रु पर ऐसी दया, उदारता और कृतज्ञता आप ही दिखा सकती हैं।"

❖ (क्रमशः) ❖

श्रीरामकृष्ण-स्तुति

स्वामी विवेकानन्द

(स्वामीजी ने विभिन्न अवसरों पर संस्कृत, बँगला तथा आंग्ल भाषाओं में अपने गुरुदेव भगवान श्रीरामकृष्ण देव की स्तुतियाँ तथा वन्दनाएँ लिखी थीं। वे सभी परम भाव-व्यंजक हैं। यहाँ पर प्रस्तुत हैं स्वामी विदेहात्मानन्द कृत उन्हीं का हिन्दी गीत रूपान्तरण – सं.)

– १ –

(बंग भाषा से)

(राग - यमन, मालकौंस, ताल - कहरवा)

खण्डन-कर्ता भव-बन्धन के,
हे जगवन्दन, तुम्हें प्रणाम,
नित्य-निरंजन नर-तन-धारी,
निर्गुण किन्तु सकल गुणधाम ।।

दूषक पाप मिटाते, हे जगभूषक,
तुम चिन्मय -घन -काय,
ज्ञानांजन-युत विमल नयन से,
देखो तो, न मोह रह जाय ।।

ज्योतिर्मय, तुम भाव-सिन्धु,
चिर-उन्मद प्रेम-समुद्र अपार,
चरण-युगल भक्तों का वांछित,
करता है भव-सागर पार ।।

प्रकट हुए युग-ईश्वर होकर,
योग-सहायक हे जगदीश्वर,
हे निरुद्ध-एकाग्र मनस्वी,
दर्शन देते स्वयं कृपा कर ।।

करुणाघन, कठोर कर्मी तुम,
करते हेय दुखों का नाश,
अर्पण किये प्राण जगहित में,
काटे इस कलियुग के पाश ।।

भोगासक्ति समझ अति निन्दित,
किया काम-कांचन का त्याग,
हे त्यागीश्वर, हे नर-पुंगव,
दो निज चरणों में अनुराग ।।

हे निर्भय, संशय-अतीत तुम,
दृढ़ निश्चय युत मानस-वान,
भक्तों को देते आश्रय, बिन-कारण,
छोड़ जाति-कुल-मान ।।

जगत् तुच्छ है गोखुर-जल सा,
तव श्रीपद सम्पद-भरपूर,
हे समदर्शी, प्रेम लुटाकर,
सबके करो क्लेश-दुख दूर ।।

नमन प्रभो, तुम मन-वाणी के,
परे और उनके आधार,
सभी ज्योतियों के भासक,
हृदि-गुहा प्रकाशक तमो निवार ।।

रंग-भंग सँग वाद्य बज रहे,
ध्वनि मृदंग घण्टे के साथ,
गाते भक्त आरती मिल सब,
कृपा करो त्रिभुवन के नाथ ।।

जय जय जय आरती तुम्हारी,
हर हर हर आरती तुम्हारी,
शिव शिव शिव आरती तुम्हारी ।।

– २ –

(संस्कृत भाषा से)

(राग – मालकौंस, ताल – कहरवा)

ॐ ह्रीं सत्य अचल तुम हो,
गुणजयी गुणों के मूलाधार,
नहीं भजन करता व्याकुल हो,
निशिदिन तव पद-कमलाकार;
मोह-विनाशक जो संसृति के,
और परम सम्पद् मेरी,
इसीलिए हे दीनबन्धु,
आया हूँ चरणाश्रय तेरी ।।

भक्ति-भजन-वैराग्य आदि,
होते हैं भव-भंजन-कारी,
गमन हेतु चिर ब्रह्म-तत्त्व में,
हैं यथेष्ट ये उपकारी;
वचन निकलते हैं मम मुख से,
बोध नहीं अन्तर में पर,
इसीलिए हे दीनबन्धु,
आया हूँ चरणाश्रय होकर ।।

तेरे पद के जो अनुरागी,
होते शीघ्र रजस् से मुक्त,
रामकृष्ण-सन्मार्ग प्राप्त कर,
परम तृप्ति से भी चिर युक्त;
मर्त्यलोक में तव पद-अमृत,
नाशे मरण तरंगों को,
इसीलिए हे दीनबन्धु,
मैं आया हूँ शरणागत हो ।।

कृत पापों को परिणत करता,
है पुण्यों में परम ललाम,
ष्णान्त* नाम वह मधुर तुम्हारा,
सब प्रकार मंगल का धाम;
यह जग तुमको आश्रय माने,
और प्रभो मैं आश्रयहीन,
इसीलिए हे दीनबन्धु, शरणा-
गत आया मैं अति दीन ।।

– ३ –

(राग – मालकौस, ताल – कहरवा)

चाण्डालों तक भी बहती थी,
जिनकी तीव्र स्नेह-धारा;
होकर भी जग से अतीत,
जनहित था जिनको अति प्यारा;
जिनकी महिमा से भासित
त्रैलोक्य, जानकी-जीवन-धाम,
भक्तिरूपिणी सीता-सँग,
जो ज्ञान-काय-धारी श्रीराम ।।

कुरुक्षेत्र में उठा प्रलय-हुँकार,
उसे निःस्वर करके,
अर्जुन की उस सहज-घोर.
अज्ञान-रात्रि का क्षय करके;
शान्त मधुर गीता के द्वारा,
गरजे सिंहनाद-सम जो,
वे ही सुप्रसिद्ध प्रभु जन्मे,
अब फिर 'रामकृष्ण' नर हो ।।

* ष्णान्त = 'ष्ण' शब्द से अन्त होनेवाला

– ४ –

(राग – मालकौस, ताल – कहरवा)

नरदेव देव, जय जय नरदेव,
जय देव देव, जय जय नरदेव ।

महाशक्ति के सागर में तुम,
उठे हुए हो भाव-तरंग,
दिव्य प्रेम की अद्‌भुत लीला,
दिखलाई तुमने बहुरंग;
संशय राक्षस के विनाश को,
महा अस्त्र सम जो उत्पन्न,
भव-रोगों के वैद्यराज उन,
गुरु का हूँ मैं शरणापन्न ।।

नरदेव देव, जय जय नरदेव,
जय देव देव, जय जय नरदेव ।

अद्वय ब्रह्म तत्त्व में जिनका, रहता
लीन सदा है चित्त,
उज्ज्वल परा-भक्ति के पट से,
जिनकी काया चिर आवृत्त;
जिनका इस जगती का जीवन,
अद्‌भुत कर्मों से सम्पन्न,
भव-रोगों के वैद्यराज उन,
गुरु का हूँ मैं शरणापन्न ।।

नरदेव देव, जय जय नरदेव,
जय देव देव, जय जय नरदेव ।

– ६ –

जो वेदज्ञ विप्रकुल यज्ञों में करते थे मंत्रोच्चार,
उस पुनीत ध्वनि से नभ-मण्डल गुँजा करता था अनिवार;
सविधि यज्ञ के फल से उनका हृदय शुद्ध हो जाता था,
तब वेदान्त-वाक्य से भ्रम,-अज्ञान-तिमिर मिट जाता था;
सदा मेघ-गम्भीर स्वरों में, सुमधुर सामगान सह आद्य,
करते जिनका स्तवन, सतत वे रामकृष्ण मेरे आराध्य ।।

– ७ –

धर्म-स्थापन करने आये,
सब धर्मों के सार-स्वरूप,
करता हूँ प्रणाम उनको मैं,
रामकृष्ण अवतार अनूप ।।

हिन्दू धर्म की रूपरेखा (१०)

स्वामी निर्वेदानन्द

(प्राचीन काल में वैदिक या सनातन धर्म और वर्तमान में हिन्दू धर्म के रूप में प्रचलित धर्म का वास्तविक स्वरूप क्या है और विश्व के अन्य धर्मों से इसमें क्या समानता व भेद है, इसे समझ पाना हिन्दुओं के लिए भी अति आवश्यक है। विद्वान् लेखक ने अपने बँगला तथा अंग्रेजी ग्रन्थ में इस धर्म के मूल तत्त्वों का बड़ा ही सहज निरूपण किया है। उसका हिन्दी अनुवाद क्रमशः प्रस्तुत किया जा रहा है। – सं.)

भक्तियोग (क्रमशः)

प्रतीक और प्रतिमा

सृष्टिकर्ता ब्रह्मा से लेकर घास के तिनके तक विश्व की किसी भी रूप में भगवान की उपासना के सच्चे प्रयास को गौणी-भक्ति* कहते हैं। ईश्वर की ही अभिव्यक्ति होने के कारण विश्व की प्रत्येक वस्तु वस्तुतः उन्हीं का तो स्वरूप है। अतः सूर्य, चन्द्रमा या आकाश की भी ईश्वर-बोध से उपासना हो सकती है। समुद्र, नदी, पर्वत, वृक्ष आदि के रूप में भी उन्हीं का ध्यान किया जा सकता है। एक धातु या पत्थर के टुकड़े को भी ईश्वर का प्रतीक मानकर भक्तिपूर्वक उसकी अर्चना की जा सकती है। हिन्दू लोग इसी भाव से शालग्राम- शिला, शिवलिंग आदि की सहायता से ईश्वर की पूजा किया करते हैं। अनन्त निराकार ब्रह्म की अभिव्यक्ति – ससीम मूर्तियों के रूप में सूर्य, आकाश, शालग्राम आदि की सहायता से मन सहज ही ईश्वर के ध्यान में एकाग्र हो जाता है। असीम मन की पकड़ के बाहर की वस्तु है। केवल ससीम तथा सरूप वस्तु ही मन का विषय हो सकता है। इसीलिए ईश्वर के किसी भी ससीम तथा साकार रूप के द्वारा उनका चिन्तन हमारे लिए सहज है। इन्हीं को प्रतीक कहा जाता है।[४] ये मानो ईश्वर का प्रतिनिधित्व करते हैं। इनमें से किसी के द्वारा उपासना को ही 'प्रतीक-उपासना' कहते हैं।

इसके अलावा ईश्वर के दिव्य रूपों को मूर्तियों या चित्रों के द्वारा प्रस्तुत किया जाता है। ये मूर्तियाँ प्रायः मिट्टी, पत्थर, धातु या काष्ठ से निर्मित होती हैं।[५] इन मूर्तियों तथा चित्रों के माध्यम से हिन्दू लोग ईश्वर की ही उपासना करते हैं। वे कागज, पत्थर या धातु के टुकड़े के प्रति अपनी भक्ति निवेदित नहीं करते। जब हम किसी दिवंगत शहीद की मूर्ति या चित्र पर माला चढ़ाते हैं, तो इसके द्वारा हम किसके प्रति सम्मान प्रकट करते हैं? निश्चय ही कागज या पत्थर हमारी श्रद्धांजलि का पात्र नहीं होता। ये तो उस वीर का स्मरण मात्र करा देते हैं, जिसके प्रति हम सम्मान प्रकट करते हैं। ठीक इसी प्रकार प्रतीक या मूर्ति हिन्दुओं को उनके ईश्वर का स्मरण करा देते हैं। इसीलिए मिट्टी की मूर्ति का पूजन करने के बाद उसे निर्ममतापूर्वक जल में विसर्जित करना सम्भव हो पाता है। काष्ठ, मिट्टी, पत्थर आदि मूर्ति के उपादान नहीं, अपितु मूर्ति जिनका प्रतीक है, वे ही हिन्दुओं के आराध्य हैं।

अस्तु, मूर्ति आदि स्थूल एवं साकार वस्तु होने के कारण इनकी सहायता से ईश्वर-चिन्तन में मन लगाना बड़ा सहज हो जाता है। प्रतीक या प्रतिमा आध्यात्मिक साधना में सहायक हैं। इनके द्वारा मानो हम 'किंडर-गार्टन'-पद्धति से आध्यात्मिक जीवन की प्राथमिक शिक्षा प्राप्त कर सकते हैं। इस प्रक्रिया के माध्यम से अग्रसर होने पर निष्ठावान साधक यथासमय अनुभूति की उच्च अवस्था में पहुँचकर ईश्वर का दर्शन-स्पर्श और यहाँ तक कि उनके साथ बातें भी कर सकता है। इस अवस्था में मूर्ति, मन्दिर, आचार-अनुष्ठान, शास्त्र आदि मानो अपनी-अपनी सार्थकता सिद्ध करने के उपरान्त पीछे हटकर खड़े हो जाते हैं। पराभक्ति की प्राप्ति में सहायक के रूप में मूर्तियों तथा अनुष्ठानों का काफी महत्त्व है।

यहाँ स्मरण रखना होगा कि चित्त को निर्मल करके उसमें श्री भगवान के प्रति परम अनुराग को अंकुरित करना ही गौणी-भक्ति की साधना का उद्देश्य है। प्रवृत्ति-मार्गी लोगों का जप, स्तुति-पाठ, प्रार्थना या पूजा आदि देखने में गौणी-भक्ति की साधना के समान लगने पर भी वह बिल्कुल ही अलग चीज है। प्रवृत्ति-मार्गी लोग पाप की सजा के भय से या फिर इन्द्रियों के परम सुख-भोग की आशा में साधना करते हैं। अपनी अर्चना के बदले वे कोई भोग्य वस्तु चाहते हैं। इस प्रकार की व्यावसायिक-वृत्ति से भगवत्-प्रेम की प्राप्ति असम्भव है। प्रवृत्ति-मार्ग के धर्मानुष्ठान के फलस्वरूप इच्छित वस्तु की प्राप्ति तो होती है, परन्तु परा-भक्ति या मोक्ष की प्राप्ति कभी नहीं हो सकती। जिन लोगों ने इन्द्रिय-सेवन की असारता को जान लिया है और त्याग का पथ अपनाने को प्रस्तुत हैं, केवल वे ही चरम साधना के रूप में किसी एक योग में व्रती होने के अधिकारी हैं। इसलिए भक्तियोग के साधक को भी प्रारम्भ से ही भोग-वासना का त्याग करना पड़ता है। उसे श्री भगवान के प्रति परम अनुराग पाने के लिए निष्ठापूर्वक प्राण-पण से चेष्टा करनी पड़ती है।

---

* वैधी, आनुष्ठानिक या आरम्भिक भक्ति को 'गौणी भक्ति' कहते हैं।

४. शालग्राम-शिला, शिवलिंग, मणि, यंत्र, धर्मग्रन्थ, घट, जल या पुष्प – इन सभी का सामान्यतः प्रतीक के रूप में उपयोग होता है। देखिये – मातृकाभेद तंत्र, १२वाँ अध्याय।

५. द्रष्टव्य मत्स्य पुराण, अध्याय ८, श्लोक-२०-२१

प्रारम्भ में ही उसे किसी ऐसे मुक्त महापुरुष का शिष्यत्व ग्रहण करना होगा, जो उसमें आध्यात्मिक शक्ति का संचार करने में समर्थ हों। गुरु ही शिष्य के लिए सर्वाधिक उपयुक्त इष्ट-देवता का चयन कर देते हैं। प्रत्येक इष्ट के विशेष मंत्र होते हैं। गुरु उसे प्रतिदिन श्रद्धापूर्वक जपने के लिए उसके इष्ट के अनुसार उपयुक्त मंत्र प्रदान करते हैं और इष्ट-आराधना की पद्धति भी बता देते हैं। इस प्रकार गुरु से भक्तियोग की पूरी प्राथमिक साधना जान लेने के बाद शिष्य दिन-पर-दिन निष्ठापूर्वक उसका अभ्यास करता रहता है।

इष्टनिष्ठा अर्थात् अभीष्ट देवता के प्रति अनन्य भक्ति इस साधना का एक अपरिहार्य अंग है। एकमात्र इष्टमूर्ति में ही श्री भगवान का चिन्तन करना होगा। श्री रामचन्द्र के परम भक्त हनुमान जी ने कहा है.–

श्रीनाथे जानकीनाथे अभेदः परमात्मनि।
तथापि मम सर्वस्व रामः कमललोचनः ।।

– "मैं जानता हूँ कि लक्ष्मीपति विष्णु और सीतापति राम दोनों एक ही परमात्मा हैं, तो भी मेरे सर्वस्व तो कमलनयन श्रीराम ही हैं।" इसी को इष्टनिष्ठा कहते हैं। इष्ट के प्रति ऐसी अचल निष्ठा के बिना साधक कभी उन्नति नहीं कर सकता।

सार रूप में कहा जा सकता है कि इष्टदेवता की अनन्य आराधना ही आरम्भिक भक्तिमार्गी के लिए प्रधान साधना है। इस मार्ग में शीघ्र प्रगति के लिए इष्ट के नाम व गुण का कीर्तन, उनसे सम्बन्धित ग्रन्थों का पठन या श्रवण, उनकी स्मृति का उद्दीपन करनेवाले विशेष तीर्थों में जाना या निवास करना और साधुसंग आदि कुछ अनुष्ठान बड़े उपयोगी हैं। सर्वोपरि श्री भगवान में पूर्ण आत्म-निवेदन करने के लिए उनके शरणागत होने का साग्रह प्रयास होना चाहिए। श्री भगवान के प्रति अनुराग को प्रगाढ़ करने के उद्देश्य से भक्तियोग में इन सब सहकारी साधनों की व्यवस्था है।[६]

इस प्रकार गौणी भक्ति के अभ्यास से मन की पवित्रता बढ़ती है और उसमें भगवान के प्रति आन्तरिक आकर्षण पैदा होता है। यदि इस अनुराग को हम किसी परिचित पथ से प्रवाहित करें, तो वह क्रमशः पूर्ण उत्कर्ष को प्राप्त होता है। माता-पिता के प्रति बालक का प्रेम, मालिक के प्रति सेवक की भक्ति, मित्र के प्रति मित्र का अनुराग, सन्तान के प्रति माता का स्नेह, पति के प्रति साध्वी पत्नी का प्रेम – अनुराग की अभिव्यक्ति की इन विभिन्न धाराओं से हम खूब परिचित हैं। लोगों का आपसी प्रेम इन विभिन्न भावों में रूपायित होता है। इसीलिए भक्तियोग इष्ट के साथ ऐसे ही किसी एक भाव के माध्यम से उनके साथ सम्बन्ध जोड़ने का निर्देश देता है। साधक अपने इष्ट को पिता, माता, स्वामी, सखा, सन्तान या पति मानकर उनके प्रति तदनुरूप अनुराग बढ़ाने के लिए अपने भाव के अनुसार आचरण करेगा।

तांत्रिक भक्त अपने इष्ट को मातृरूप में देखते हैं। वैष्णव शास्त्रों में – शान्त, दास्य, सख्य, वात्सल्य तथा माधुर्य – इन पाँच भावों की साधना बताई गयी है। इनमें से प्रथम **शान्त-भाव** में इष्ट के साथ कोई लौकिक भाव नहीं रहता। भगवान के प्रति अनन्य भाव से अनुराग और उनके स्वरूप के बारे में चेतना से प्रशान्ति का उदय होता है, उसी को 'शान्त-भाव' कहते हैं। सनक आदि सप्तर्षि शान्त-भावाश्रयी भक्तों के आदर्श हैं। **दास्य-भाव** के भक्त स्वयं को सर्व-शक्तिमान ईश्वर के कृपाप्राप्त सेवक मानते हैं और तदनुरूप आचरण करते हैं। महावीर हनुमान जी इस श्रेणी के साधकों के ज्वलन्त आदर्श हैं। अपने इष्ट को सखा, पिता तथा प्रेमास्पद पति मानने की दृष्टि को क्रमशः **सख्य, वात्सल्य तथा माधुर्य भाव** कहते हैं। वृन्दावन के श्रीदामा आदि ग्वाल-बाल और हस्तिनापुर के भीम-अर्जुन आदि का सख्य-भाव था; यशोदा का वात्सल्य-भाव और वृन्दावन की गोपिकाओं का मधुर-भाव था।[७]

वैष्णव मत के ये पाँच भाव आपस में अनुराग के प्रकार की दृष्टि से और अनुराग की प्रगाढ़ता की दृष्टि से भी भिन्न हैं। वस्तुतः भक्तिशास्त्र में भगवत्प्रेम की तीव्रता तथा गम्भीरता के क्रम के अनुसार ही इन पाँचों भावों का उल्लेख किया गया है।[८] **शान्त-भाव में** इष्ट के प्रति भावोच्छ्वास-रहित अनुराग होता है। इससे एक कदम ऊपर लौकिक सम्पर्क युक्त **दास्य-भाव में** विश्वस्त सेवक की अपने प्रभु के प्रति श्रद्धायुक्त भक्ति होती है। शान्त-भाव का भक्त ईश्वर के स्वरूप का ध्यान करके और दास्य-भाव का भक्त उनकी अनन्त महिमा का विचार करके विस्मय-विमुग्ध रहते हैं। ये दोनों ही प्रकार के भक्त ईश्वर तथा स्वयं के बीच सर्वदा ही विशेष दूरी बनाये रखते हैं। बाकी तीन भावों वाला भक्त धीरे-धीरे अपने इष्ट के साथ घनिष्ठ होते हुए उत्तरोत्तर उनके साथ अन्तरंगता का बोध करता है। इस श्रेणी के भक्त की चेतना से ईश्वर की शक्ति, ऐश्वर्य आदि का बोध क्रमशः लुप्त हो जाता है और वे अत्यन्त अपने बन जाते हैं। **सख्य-भाव में** भक्त तथा इष्ट के बीच मित्रों जैसी समानता होती है। निश्चय ही यह प्रेम की एक उच्च अवस्था है। **वात्सल्य-भाव में** भक्त अपने इष्ट को अपनी सन्तान मानता है। इसी भाव में विभोर होकर यशोदा हृदय से विश्वास करतीं कि उनके खिलाये बिना भगवान भूखे ही रह जायेंगे। वे यह सोचना नहीं चाहतीं कि उनके दुलारे गोपाल सर्व-शक्तिमान परमेश्वर हैं। वस्तुतः वात्सल्य-भाव का भक्त प्रेम की उन्माद-अवस्था में रहता है। पर भक्ति का चरम उत्कर्ष तो **माधुर्य**

६. 'चैतन्य-चरितामृत' अध्याय २, पद २२

७. 'चैतन्य-चरितामृत' अध्याय २, पद २९

८. 'चैतन्य-चरितामृत' अध्याय २, पद २९

भाव में होता है, जहाँ भगवत्प्रेम के घोर आकर्षण में भक्त और भगवान अभिन्न हो जाते हैं। इस भाव का पौराणिक आदर्श श्रीराधा के कृष्ण-प्रेम में मिलता है। हिन्दू इतिहास में मीराबाई के महिमामय जीवन में भी इसी प्रेम का आदर्श दीख पड़ता है।

इस प्रकार भगवत्प्रेम के पुष्ट होकर पराभक्ति में परिणत हो जाने पर साधक परम आनन्द का अधिकारी होता है। तब वह प्रेम, आनन्द तथा सौन्दर्य के सच्चे आगार – भगवान को प्राप्त करता है। **रसो वै सः** – वे ही रस-स्वरूप हैं।[९] हिन्दू लोग कभी ऐसा नहीं सोचते कि ईश्वर स्वर्ग के सिंहासन पर शान के साथ बैठे हुए पुण्यात्माओं को पुरस्कार और पापियों को दण्ड बाँट रहे हैं। सगुण ईश्वर के बारे में हिन्दू-धारणा बिल्कुल भिन्न प्रकार की है। ईश्वर उसके परम निकट और परम प्रिय हैं। ईश्वर के हृदय में भक्त के लिए उमड़ते प्रेम की तुलना में मातृ-हृदय में पुत्र के लिए उमड़ता हुआ प्रेम भी तुच्छ हो जाता है। संसार के सुन्दरतम वस्तु का लावण्य भी ईश्वर की दिव्य सुषमा की एक अति क्षीण झलक मात्र है। **तस्य भासा सर्वमिदं विभाति** – उन्हीं की ज्योति से सब कुछ आलोकित हो रहा है।[१०] उनका सान्निध्य कभी भयोत्पादक नहीं हो सकता; उनके अतुल माधुर्यमय स्पर्श से भक्त-हृदय असीम आनन्द से परिपूर्ण हो जाता है। वह आनन्द इतना तीव्र होता है कि भक्तगण मुक्ति तक की उपेक्षा करके चिर काल तक उसी का भोग करना चाहते हैं। इष्ट-देवता के असीम सौन्दर्य तथा उनके सान्निध्य के आनन्द का उपभोग करने के लिए ही उनके प्राण व्याकुल होते हैं, न कि निर्गुण-निराकार ब्रह्म में लीन होने के लिये। वे कहते हैं – "मैं चीनी होना नहीं, बल्कि चीनी खाना पसन्द करता हूँ।"

ऐसी अवस्था में पहुँचकर भक्त देखते हैं कि उनके इष्टदेव ही उसके अन्दर-बाहर सर्वत्र विराजित हैं। उनके लिए सम्पूर्ण विश्व ही पूज्य तथा प्रिय हो जाता है। यहाँ तक कि बाघ तथा सर्प आदि हिंसक जीवों में भी वे अपने प्रेमास्पद को ही देखते हैं। ऐसे सिद्ध पुरुष जहाँ कहीं भी रहते हैं, वहीं प्रेम, पवित्रता तथा आनन्द बिखेरते हुए लोगों की आध्यात्मिक चेतना को जाग्रत करते रहते हैं।

९. तैत्तिरीय उप. २/७ १०. कठ उप. २/२/१५

जीवन-लक्ष्य

डॉ. त्रिलोकी सिंह

यह दुर्लभ मानव-तन पाकर,
जीवन-लक्ष्य समझना होगा।
भक्ति-सिन्धु में अवगाहन कर,
मन को निर्मल करना होगा।।

भौतिक भोगों से यह मानव,
कभी न सच्चा सुख पा सकता।।
बिना ईश की अनुकम्पा के,
भव से पार नहीं जा सकता।।

शाश्वत सुख पाने की खातिर,
षड् विकार को तजना होगा।
भक्ति-सिन्धु में अवगाहन कर,
मन को निर्मल करना होगा।।

प्रभु की चरण-शरण गहने से,
शमन दुखों का हो जाता है।।
भगवद् भक्ति बिना यह प्राणी,
जग में दुख-ही-दुख पाता है।।

माया ठगिनी के चंगुल से,
कदम-कदम पर बचना होगा।
भक्ति-सिन्धु में अवगाहन कर,
मन को निर्मल करना होगा।।

प्रभु से प्रेम न हुआ अगर तो,
यह नर-तन पाना निष्फल है।
आवागमन मिटाने का बस,
प्रभु का सुमिरन ही सम्बल है।।

ईश-कृपा पाने की खातिर,
भगवत्-प्रेमी बनना होगा।
भक्ति-सिन्धु में अवगाहन कर,
मन को निर्मल करना होगा।।

जीवन धन्य उसी का है जो,
प्रभु का प्रेम पात्र बन जाये।
प्रभु के चरणों का आश्रय ले,
हरि-चिन्तन में ही रम जाये।।

कर अपना सर्वस्व समर्पण,
मुक्तिमार्ग को चुनना होगा।
भक्तिसिन्धु में अवगाहन कर,
मन को निर्मल करना होगा।।
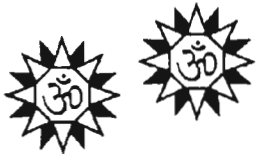
स्वामी विवेकानन्द के संस्मरण
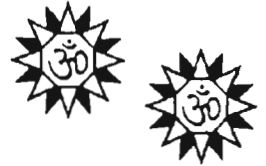
स्वामी विज्ञानानन्द

(धन्य थे वे लोग, जिन्होंने स्वामी विवेकानन्द जी के काल में जन्म लिया तथा उनका पुण्य सान्निध्य प्राप्त किया। उनके प्रत्यक्ष सम्पर्क में आने-वाले अनेक लोगों ने अपनी पावन तथा अविस्मरणीय स्मृतियाँ लिपिबद्ध की हैं। ये संस्मरण अनेक पत्र-पत्रिकाओं तथा ग्रन्थों में प्रकाशित भी हुए हैं और उनमें से कुछ का हिन्दी में भी प्रकाशन हुआ है। प्रस्तुत संस्मरण बँगला के विभिन्न ग्रन्थों यथा 'सत्प्रसंगे स्वामी विज्ञानानन्द' तथा 'स्वामी विज्ञानानन्द जीवन ओ सन्देश' से संकलित हुए हैं। अनुवादक हैं – स्वामी विदेहात्मानन्द। – सं.)

स्वामीजी को देखा है – आधी रात को ध्यान में बैठे थे। कमरा प्रकाश से एकदम आलोकित हो गया था। मैं बगल के कमरे में सोता था। रात को बाहर जाने के लिये उठा, तो देखा – स्वामीजी का कमरा आलोकित हो रहा है। कभी-कभी गहन रात में भजन भी गाया करते। एक बार का भजन याद है – "माँ त्वं हि तारा, तुमि त्रिगुणधरा परात्परा।" यह भजन वे कितने मन-प्राण के साथ तन्मय होकर गा रहे थे।

स्वामीजी की शिव-भाव से पूजा करना।

स्वामीजी कहते थे – "मेरा यहाँ का कार्य खत्म हो गया। ठाकुर ने कहा था इसीलिये काम किये जा रहा हूँ, पर मेरा मन सदैव ही ब्रह्म में लीन होना चाहता है।"

स्वामीजी तब हाल ही में संसार-त्याग करके मठ में आये थे। एक व्यक्ति ने उनसे पूछा था – "महाशय, क्या ज्ञान-प्राप्ति हुई?" स्वामीजी ने कहा – "नहीं।"

उन्होंने फिर पूछा – "तो फिर क्यों संसार छोड़कर चले आये?" स्वामीजी ने दृढ़तापूर्वक उत्तर दिया – "इसलिए कि यहं भलीभाँति अनुभव हो रहा है कि यह अत्यन्त हेय है – इसे ग्रहण करना ही मृत्यु है। इसी कारण छोड़ा है।"

कन्याकुमारी में स्वामीजी जिस शिलाखण्ड पर बैठे थे, काफी देर तक उसी की ओर निहारने के बाद भावविभोर होकर कम्पित स्वर में उन्होंने साथ के संन्यासी से कहा था – "देखो, अमेरिका जाने के पूर्व इसी शिला की चोटी पर बैठकर स्वामीजी को एक अद्‌भुत दर्शन हुआ था और वे गहन ध्यान में डूब गये थे।"

स्वामीजी के व्याख्यान की एक विशेषता देखी है। जब वे व्याख्यान देते, तब अपने को भूलकर मानो एक दूसरे ही व्यक्ति हो जाते। ... उनकी क्षमता अत्यन्त अद्‌भुत थी। लोग उनके समक्ष मानो केंचुए-जैसे हो जाते थे। ... अभी उनकी इच्छा के ही अनुरूप कार्य हो रहा है।

एक बार अमेरिका के मिशनरियों ने स्वामीजी को मार डालने का षड्यन्त्र रचकर, उन्हें शरबत में विष मिलाकर पीने के लिए दिया। स्वामीजी को शरबत बड़ा पसन्द था। वे तो उन लोगों के षड्यन्त्र के बारे में बिल्कुल भी नहीं जानते थे। शरबत देख प्रसन्न हो गये और गिलास को उठाकर पीने ही जा रहे थे कि देखा – ठाकुर सामने खड़े होकर उन्हें शरबत पीने से मना कर रहे हैं। उन्होंने वह शरबत नहीं पिया। इसी प्रकार उस बार उनकी प्राणरक्षा हुई थी।

शक्तिमान महापुरुष लोग जहाँ कहीं भी रहते हैं, वहीं एक आध्यात्मिक परिमण्डल बनाये रखते हैं और उनकी उस सीमा के भीतर जो भी प्रवेश करता है, उसे समझ में आ जाता है कि बाहर से विद्युत्-प्रवाह के समान कोई शक्ति उसके भीतर प्रविष्ट हो रही है। यह एक बड़ी अद्‌भुत बात है। स्वयं अनुभव किये बिना इसे ठीक-ठीक समझाया नहीं जा सकता।

हमारा मठ जब बेलूड़ के नीलाम्बर मुकर्जी के बगीचे में था, तब एक बार दशहरे के दिन स्वामीजी के चरणों का स्पर्श करते हुए प्रणाम करते समय विद्युत् के स्पर्श के समान एक झटका लगा था। स्वामी ब्रह्मानन्द जी भी खूब शक्तिशाली व्यक्ति थे। एक दिन वे बड़े गहन ध्यान में बैठे हुए थे। शरीर को खूब कड़ा करके ध्यान में तन्मय थे। मैं भी पास में ही बैठा था; देखा कि मेरे भीतर भी वही भाव आता जा रहा है। स्नायु के भीतर से मानो कोई खिंचाव हो रहा हो। शक्ति का क्या यह साधारण खेल है? अज्ञात रूप से ही एक व्यक्ति की शक्ति दूसरे के भीतर जाकर कार्य करती है। वे जैसे शक्तिमान थे, वैसे ही रसिक भी थे। हमने देखा है कि स्वामीजी और राखाल महाराज – दोनों महापुरुषों में कितनी अद्‌भुत आकर्षणी शक्ति थी! लगता मानो वे लोग बलपूर्वक अपनी ओर खींच रहे हैं। जो लोग भी इनकी शक्ति के प्रभाव की सीमारेखा के भीतर चला जाता, उनके सारे बुरे संस्कार तथा अज्ञान का आवरण – सब धीरे-धीरे न जाने कहाँ चले जाते! उनकी इच्छाशक्ति से जीवों के सारे बुरे संस्कार नष्ट हो जाते थे।

उनके (स्वामीजी) और राखाल महाराज (स्वामी ब्रह्मानन्द) के पास जाने से ऐसा लगता मानो वे एक आध्यात्मिक परिमण्डल की सृष्टि करके उसी में विराजित हों। उसके अन्दर जो कोई भी जाता, उसे अनुभव होता कि मानो एक वैद्युतिक शक्ति बाहर निकलकर उसके अन्दर प्रवेश कर रही है। ये दोनों क्रियाएँ साथ-ही-साथ हो जाती थीं।

स्वामीजी अपने कमरे में ही बैठे थे। तब बीच का यह दरवाजा खुला रहता था। हम लोग इस ओर से भी उनके कमरे में आना-जाना करते थे। कुछ दिनों से मेरे मन में आ रहा था कि स्वामीजी तो देश-विदेश घूमकर कितने ही

व्याख्यान दे आये। वहाँ उन्हें कितने ही प्रकार के लोगों – यहाँ तक कि महिलाओं के साथ भी मिलना-जुलना करना पड़ता था। उन दिनों स्वामीजी के साथ उनके पाश्चात्य शिष्यगण भी थे।'इसीलिए मैं सोचता कि वे वहाँ जो कुछ कर आये, वह क्या ठाकुर के भाव के अनुरूप हुआ है? उन्होंने इतनी महिलाओं के साथ मेल-जोल क्यों किया? मन में बारम्बार यही बात आ रही थी। इसीलिए एक दिन स्वामीजी को अकेले देखकर मैंने पूछा – "अच्छा महाराज, आपने तो विदेशों में जाकर महिलाओं के साथ भी मिलना-जुलना किया है ! परन्तु ठाकुर का उपदेश तो अन्य प्रकार का था ! वे कहा करते थे कि 'संन्यासी महिलाओं का चित्र तक नहीं देखेगा।' मुझसे तो उन्होंने विशेष रूप से कहा था कि 'खबरदार, चाहे जितनी भी भक्तिमती क्यों न हो, महिलाओं से कभी मेल-जोल मत रखना।' इसीलिए मेरे मन में आ रहा है कि आपने ऐसा कार्य क्यों किया।"

मेरी बात सुनकर स्वामीजी खूब गम्भीर हो गये। मुझे तो उनके मुख की ओर देखने में ही खूब भय लगने लगा कि क्या बोलने गया और क्या बोल बैठा। उनका मुख तथा नेत्र बिल्कुल लाल हो गये थे। क्षण भर बाद वे बोल उठे – "देख पेशन, तूने ठाकुर को जितना समझा है, क्या ठाकुर उतने में ही सीमित हैं? और ठाकुर को तूने भला समझा भी कितना है? जानता है – ठाकुर ने मेरे मन से स्त्री-पुरुष का भेद ही मिटा दिया है ! आत्मा में स्त्री-पुरुष का भेद कहाँ है रे? इसके सिवा, ठाकुर सारी दुनिया के लिए आये हैं। वे क्या चुन-चुनकर केवल पुरुषों का ही उद्धार करने आये थे? वे सभी का – स्त्री-पुरुष सभी का उद्धार करेंगे। तुम लोग अपनी अपनी बुद्धि के पैमाने से ठाकुर को नापकर उन्हें इतना छोटा करना चाहते हो ! उनकी कृपा इस संसार में सभी नर-नारी तो पायेंगे ही, उनकी कृपा का प्रभाव अन्य लोकों में भी जा पहुँचेगा। उन्होंने तुझसे जो कुछ कहा है, वह गलत नहीं है। खूब सत्य है। उन्होंने तुझे जिस भाव का उपदेश दिया है, तू ठीक उसी भाव से चलना। परन्तु मुझे उन्होंने अन्य प्रकार से कहा है। केवल कहा ही नहीं, स्पष्ट रूप से दिखा दिया है। वे हाथ पकड़कर जो कुछ करा रहे हैं, मैं वही कर रहा हूँ।" यह कहते-कहते स्वामीजी ने थोड़ा शान्त भाव धारण किया। मैं तो स्वामीजी की वह रुद्रमूर्ति देखकर बिल्कुल सकपका गया था। मैं और भला क्या कहता? मेरे मुख से और कोई बात ही नहीं निकल रही थी। लग रहा था कि कैसे भागकर जान बचाऊँ !

स्वामीजी को मेरी अवस्था देखकर दया आ गयी और वे थोड़ा हँसते हुए बोले, "नारियों के भीतर उन आद्याशक्ति को जगाये बिना क्या कोई राष्ट्र जाग सकता है, या कोई राष्ट्र उठ सकता है? मैंने तो घूमकर सारी दुनिया देख ली है। सभी देशों में महिलाओं की एक जैसी ही हालत है और विशेषकर हमारे इस अभिशप्त देश का तो कहना ही क्या? इसीलिए तो हमारे देश का इतना अध:पतन हो गया है। महिलाओं के जागते ही देखेगा कि पूरा राष्ट्र जाग्रत हो गया है। इसीलिए तो माँ (श्री सारदा देवी) का आगमन हुआ है। उनके आने के बाद से ही सभी देशों की नारियों के भीतर जागरण शुरू हुआ है। अभी तो प्रारम्भ मात्र है, बाद में और भी कितना सब देखेगा।" ...

मैं माताजी के पास उतना नहीं जाता था। पता नहीं कैसे स्वामीजी को इसका पता चल गया। एक दिन वे मुझसे पूछ बैठे, "माँ को प्रणाम करने गये थे क्या?" मैंने कहा, "नहीं, महाराज।" स्वामीजी बोले, "अभी जाकर प्रणाम कर आओ।" मैं माँ को प्रणाम करने चला। मन-ही-मन सोच रहा था कि किसी प्रकार झट से करके चला आऊँगा। पर ज्योंही माँ को प्रणाम करके उठा, त्योंही स्वामीजी पीछे से बोल उठे, "यह क्या पेशन ! साष्टांग प्रणाम करो – माँ साक्षात् जगदम्बा जो हैं ! मैंने पुन: साष्टांग प्रणाम किया, फिर लौटा। मैंने सपने में भी नहीं सोचा था कि स्वामीजी पीछे-पीछे आ रहे हैं।

स्वामीजी गुरुभाइयों से इतना प्रेम करते थे कि ठीक मानो माँ हो ! इसीलिए किसी का तनिक-सा भी दोष अथवा त्रुटि वे नहीं देख पाते थे। वे चाहते थे कि उनके गुरुभाई उन्हीं के जैसे हों – उनसे भी महान् हों। स्वामीजी के प्रेम की तुलना नहीं !

स्वामीजी बड़े कठोर व्यक्ति थे। थोड़ा-सा भी इधर-उधर होने से डाँटते थे। हमारे भले के ही लिए डाँटते थे और प्यार भी बहुत करते थे। अब तो वैसे डाँटनेवाले मठ में और कोई नहीं है। उस समय डाँट-फटकार जैसी थी, एक दूसरे के प्रति प्रेम भी वैसा ही था। राखाल महाराज और बाबूराम महाराज को स्वामीजी का अधिक झमेला सँभालना पड़ता था और डाँट-फटकार भी बहुत खानी पड़ती थी।

स्वामीजी की विचारधारा को राखाल महाराज ने दृढ़ आधार पर प्रतिष्ठित करके कार्य रूप में परिणत किया है। उन्हीं के संरक्षण में रहने के कारण मैंने स्वामीजी की फटकार बहुत अधिक नहीं खायी। एक बार स्वामीजी ने मुझसे कहा, "पेशन, वर्तमान युग की आवश्यकता के अनुरूप अब एक नई स्मृति लिखने का समय आ गया है। पुरानी स्मृतियाँ अब काम की नहीं रह गयी हैं।" मैंने पूछा, "लेकिन लोग आपकी 'स्मृति' को भला स्वीकार ही क्यों करेंगे?" बस, फिर क्या था ! देखा – स्वामीजी का चेहरा तमतमा उठा है। राजा महाराज वहीं टहल रहे थे। उनसे बोले, "देख राजा ! पेशन कहता है कि लोग मेरा सन्देश स्वीकार नहीं करेंगे !" राजा महाराज ने उन्हें दिलासा देते हुए कहा, "तुम भी वैसे ही ठहरे ! अरे, पेशन की बात क्या ध्यान देने लायक है? वह बच्चा है, वह भला क्या जानेगा?" एक सन्तुष्ट बालक की भाँति स्वामीजी आनन्दपूर्वक कहने लगे, "पेशन, क्या

तुमने सुना? लोग निश्चित रूप से मेरी बातें स्वीकार करेंगे।''

स्वामीजी ने यद्यपि बाहर ज्ञान और कर्म का प्रचार किया, किन्तु उनके भीतर प्रेम का भाव था। वे अन्दर से अत्यन्त कोमल थे। बाहर पुरुषोचित शौर्य था, परन्तु हृदय माँ की भाँति कोमल था। और गुरुभाइयों के प्रति उनका प्रगाढ़ प्रेम दर्शनीय था। विशेषकर, वे महाराज को बहुत अधिक चाहते और उनके प्रति खूब आदर भी दिखाते। **गुरुवत् गुरुपुत्रेषु** – ठीक – यही भाव था। फिर भी यदि किसी का दोष अथवा त्रुटि देख लेते, तो सह नहीं सकते थे।

जिन राखाल महाराज को वे प्राणों से भी अधिक चाहते थे, उन्हीं को जब एक बार उन्होंने बुरी तरह फटकारा था कि महाराज तो व्याकुल हो रो उठे थे। अवश्य इसमें सारा दोष मेरा ही था। (गंगा पर घाट तथा पुश्ते के निर्माण पर होनेवाले आनुमानिक व्यय का हिसाब विज्ञानानन्द जी ने स्वामीजी के भय से कम करके दिखा दिया था। पर जब स्वामीजी ने हिसाब लगाया तो देखा कि उस पर अनुमान से बहुत अधिक खर्च आयेगा। इसीलिये फटकार सुनाई।) मुझे बचाने के लिए महाराज ने सारा दोष अपने ऊपर मढ़ लिया था। ... (कमरे में महाराज रो रहे हैं, यह सुनकर) स्वामीजी तत्काल पागलों की भाँति दौड़े-दौड़े महाराज के कमरे में गये और उन्हें हृदय से एकदम लगाकर रोते हुए कहने लगे, ''राजा ! राजा ! मुझे क्षमा करो, भाई ! तुम्हें डाँटकर मैंने बड़ा अनुचित कार्य किया है।'' ...

स्वामीजी को इस प्रकार रोते देख वे (महाराज) अवाक् हो गये। ... बोले, ''डाँट दिया, तो इससे क्या हुआ? तुम मुझे चाहते हो, इसीलिए तो यह सब कहते हो।'' फिर भी महाराज को हृदय से लगाकर स्वामीजी बार-बार कहने लगे, ''मुझे क्षमा करो, भाई ! ठाकुर तुम्हें कितना प्यार करते थे ! उन्होंने कभी तुम्हें एक कड़ी बात तक नहीं कही। और मैंने तुम्हें इस तुच्छ बात के लिए इतना बुरा-भला कहा !'' इस प्रकार बहुत समय तक दोनों एक दूसरे को समझा-बुझाकर शान्त हुए। उस दिन का दृश्य जीवन में कभी नहीं भूल पाऊँगा।

मैं स्वामीजी से जैसा प्रेम करता था, वैसे ही उनसे भय भी करता था। जब देखता कि उनका मिजाज ठीक नहीं है, तो कन्नी काटकर चला जाता। स्वामीजी यदि बुलाते, ''पेशन ! पेशन ! सुन, जरा इधर आओ'' – तो मैं दूर से ही कहता, ''महाशय, अभी काम में बड़ा व्यस्त हूँ, बाद में आऊँगा'' – और खिसक जाता। ... मैं स्वामीजी के पास बहुत अधिक नहीं जाता था। एक दिन संध्या के पूर्व उन्होंने मुझे बुलाया, मैंने कहला दिया, ''अभी ध्यान करने जा रहा हूँ।''

दीक्षा लेने के लिए किसी के आने पर स्वामीजी कहते – ''अरे, तुम लोग मेरी शान्त-मूर्ति देखकर भुलावे में न आ जाना। मेरी रौद्र-मूर्ति देखने के बाद भी यदि शिष्य बनने की इच्छा हो, बनना।'' इस पर लड़के कहते – ''हाँ महाराज, हम लोग सब कुछ सहन कर लेंगे।''

१९०१-०२ ई. की बात है। एक दिन वे राखाल महाराज तथा बाबूराम महाराज आदि को बुलवाकर बोले – ''कल से तुम लोग माधुकरी भिक्षा के लिए निकलो। तुम लोगों के स्वयं गये बिना काम नहीं होगा। तुम लोगों को देखकर ही तो लड़के सीखेंगे। गंगा पार जाने के लिए मठ से एक अधेला मात्र ले जाना। उस पार जाना, लेकिन किसी परिचित व्यक्ति के घर भिक्षा मत करना।''

तदनुसार वे लोग उत्तर-भारतीय साधुओं के समान गैरिक धारण किये हुए बाहर निकले। शरीर का ऊपरी भाग खुला था। शरीर की दीप्ति मानो फटकर निकल रही थी। सभी उन दिनों पूर्ण युवक थे। और उनका शरीर आदि सब सच्चे साधुओं के समान था। ज्योतिर्मय सुगठित मनोहर कलेवर ! गर्मी का मौसम था। राखाल महाराज आदि पसीने से तर-बतर कन्धे से झोली लटकाए दोपहर तक लौट आये। आम के वृक्ष के नीचे निर्मित चबूतरे के पास छाया में खड़े होकर सभी दम ले रहे थे। उसी समय उन्हें दूर से ही आते देखकर स्वामीजी ने आगे बढ़कर बड़ी खुशी के साथ राखाल महाराज का आलिंगन करते हुए कहा – ''आओ भाई राजा, आओ। यही तो चाहिए। भिक्षा का अन्न शुद्ध अन्न है। बहुत दिनों से खाया नहीं।'' स्वामीजी ने उनकी झोली से रोटी तथा और भी थोड़ा-थोड़ा कुछ गुड़ आदि लेकर परम सन्तोषपूर्वक खाया।

उन दिनों मैं बेलुड़ मठ में गंगा पर पक्का तटबन्ध बनवा रहा था। एक दिन बड़ी धूप थी। स्वामीजी मठ के ऊपरी बरामदे में बैठे शरबत पी रहे थे। मुझे भी जोरों से प्यास लगी हुई थी। इसी समय स्वामीजी के एक सेवक ने आकर एक गिलास देकर कहा, ''स्वामीजी ने आपके लिए शरबत भेजा है।'' गिलास को खाली देखकर तो खूब निराश हुआ, मन में दु:ख भी हुआ कि देखो तो कहाँ प्यास से मेरा हृदय फटा जा रहा है और कहाँ इन्हें मजाक सूझा है। पर जो हो, महापुरुष का दिया प्रसाद समझकर जो भी दो-चार बूँदें गिलास में थी उसको ही पी गया। पर उसी से मेरी सारी प्यास क्षण भर में मिट गयी, अद्भुत तृप्ति का बोध हुआ। मैं तो अवाक् रह गया। घाट का कार्य समाप्त कर लौटने पर स्वामीजी ने हँसते-हँसते पूछा, ''शरबत पीया था?'' मैंने उत्तर दिया, ''शरबत तो नाम मात्र को था, परन्तु जो था उसी से बड़ी तृप्ति हुई।'' सुनकर स्वामीजी बड़े प्रसन्न हुए।

पहले जब मैं मठ में निवास करता, तो प्राय: उसी छोटे कमरे में रहा करता था। जहाँ तक हो पाता मैं बरामदे की ओर दरवाजा नहीं खोलता था, क्योंकि स्वामीजी अक्सर उसी

बरामदे में टहला करते थे। एक-एक समय वे एक-एक भाव में रहते। एक घटना भलीभाँति याद है। उस समय वे जीवित थे। भाव-विभोर होकर वे – 'माँ, तुम ही तारा, तुम्हीं त्रिगुणधरा परात्परा' – आदि गाते हुए सारी रात उसी बरामदे में टहलते रहे। अधिकांशत: वे 'माँ, तुम ही तारा' – यह एक पंक्ति ही गा रहे थे। स्वामीजी को जब ऐसा भाव होता, तो कोई भी उनके पास जाने का साहस नहीं जुटा पाता। भजन की वह एक ही पंक्ति गा रहे थे और टहल रहे थे। गाते-गाते बीच-बीच में आकुल होकर रोते और मौन खड़े हो जाते। भोर तक उनका यही भाव चला था।

स्वामीजी स्वयं ही एक सजीव विश्वकोष थे। एक दिन उनके मुख से सम्पूर्ण विश्व की और भारत की स्थापत्य-विद्या की मूल रीति तथा परम्पराओं के विषय में मैंने जो कुछ सुना, उससे स्तम्भित रह गया।

एक दिन शाम को टहलने जाते समय स्वामीजी ने मुझे भी बुला लिया। गंगाजी के किनारे घूमते-घूमते उन्होंने मुझे खूब दृढ़ता के साथ कहा कि ठाकुर का एक मन्दिर होगा। मुझसे भी पूछा – "तुम्हारा क्या कहना है?" मैं बोला – "आप जब कह रहे हैं, तो अवश्य ही होगा।" मन्दिर के बारे में चर्चा करते हुए उनका मुख-नेत्र तथा चेहरे का भाव बिल्कुल अलग प्रकार का हो गया। ऐसा लग रहा था मानो वे मन्दिर को स्पष्ट रूप से देख पा रहे हैं। इसके बाद कुछ समय तक मन्दिर का क्या, कहाँ और कैसा होगा – यही प्रसंग चला। मन्दिर का वर्णन पूरा होने के बाद उन्होंने मुझसे उसका एक खाका बनाने को कहा। थोड़ी देर बाद स्वामीजी (अपनी ओर इंगित करते हुए) खूब गम्भीरता के साथ बोले – "यह शरीर तब तक नहीं रहेगा, परन्तु मैं ऊपर से देखूँगा।" ठाकुर के मन्दिर की नींव स्थापित करते समय मैंने कहा था – "स्वामीजी, आपने कहा था कि ऊपर से देखेंगे, सो अब देख लीजिए। हम लोग कार्य आरम्भ कर रहे हैं।"

स्वामीजी ने एक दिन टहलते-टहलते मुझसे कहा था – "यहाँ पर ठाकुर का मन्दिर होगा।" जिस स्थान पर इस समय मन्दिर का निर्माण-कार्य आरम्भ हुआ है – ठीक वही स्थान उन्होंने दिखाया था। इसके बाद उन्होंने मुझसे पूछा था – "मन्दिर मैं देख सकूँगा न?" मैंने कहा – "हाँ महाराज, आप देखकर जायेंगे।" इस पर थोड़ा-सा चुप रहकर वे बोले थे – "हाँ, मैं देखूँगा, ऊपर से देखूँगा।" इस समय वह मन्दिर बन रहा है और वे ऊपर से देख रहे हैं।

स्वामीजी किसी को अकारण नहीं डाँटते थे। भले के लिए ही डाँटते थे और स्नेह भी खूब करते थे। अपनी अन्तिम बीमारी के बाद वे क्रमश: स्वस्थ हो उठे थे। जिस दिन वे उत्तरपाड़ा-ग्रन्थालय देखने गये, उसी दिन मैं मठ से बागबाजार होता हुआ इलाहाबाद चला आया। इसके कुछ दिनों बाद तार के द्वारा उनके देहत्याग का समाचार मिला। जिस दिन तार मिला, उसके पिछले दिन ही ब्रह्मवादिन् क्लब के मन्दिर में ध्यान करते समय मुझे उनका दर्शन मिला था। देखा – स्वामीजी ठाकुर की गोद में बैठे हुए हैं। देखकर सोचा – यह क्या बात है? उसके बाद बेलूड़ मठ से तार मिला कि स्वामीजी ने देहत्याग कर दिया है।

वास्तव में स्वामीजी ने ठाकुर को जैसा समझा था, वैसा और कौन समझ पाता? उनके द्वारा ही ठाकुर ने अपना सारा काम करा लिया। स्वामीजी बस एक ही हो सकते हैं।

स्वामीजी ने पचास वर्ष बाद एक बार फिर आने की इच्छा व्यक्त की थी, सम्भव है वे पुन: जन्म ग्रहण करें।

स्वामीजी अब भी अपने कमरे में विराजमान हैं। मैं तो उनके कमरे के निकट से होकर जाते समय बड़ा दबे-पाँव चलता हूँ, ताकि उन्हें कोई असुविधा न हो। उनके कमरे की ओर मैं देखता तक नहीं कि कहीं उनसे सामना न हो जाय। "महाराज, क्या आप अब भी स्वामीजी को देख पाते हैं?" – एक श्रोता के ऐसा पूछने पर महाराज बोले – "वे उपस्थित हैं और देख नहीं सकूँगा? वे सामने के बरामदे में टहला करते हैं, कमरे में भजन गाते हैं और भी क्या-क्या करते हैं।"

स्वामीजी एक दिन सुबह मन्दिर से नीचे उतर रहे थे। चाय की मेज के सामने मुग्ध-भाव से हम लोगों से बोले, "श्रीकृष्ण को नहीं देख पा रहे हो? देखो, देखो – यहीं पर वे साक्षात् खड़े हैं!" परन्तु हम लोग कुछ भी नहीं देख सके। चुपचाप बैठे रहे।

बेलूड़ मठ में एक दिन रात के दो बजे स्वामीजी की नींद टूट गयी। वे बरामदे में टहल रहे थे। मैंने पूछा – "स्वामीजी, क्या आपको नींद नहीं आ रही है?" वे बोले – "देखो पेशन, मैं भलीभाँति सो रहा था। सहसा एक धक्का जैसा लगा और मेरी नींद टूट गयी। ऐसा लगता है कि कहीं कोई दुर्घटना हो गयी है और इससे बहुत-से लोगों को दु:ख-कष्ट हुआ है।" स्वामीजी की यह बात सुनकर मैंने सोचा – न जाने कहाँ कोई दुर्घटना हुई है और स्वामीजी की यहाँ नींद खुल गयी – ऐसा भी भला सम्भव है! ऐसा सोचकर मैं मन-ही-मन थोड़ा-सा हँसा। परन्तु आश्चर्य की बात! अगले दिन सुबह के अखबार में मैंने देखा – पिछली रात के दो बजे फीजी के पास एक द्वीप में ज्वालामुखी की आग से बहुत-से लोग मारे गये हैं और बहुत-से लोग निराश्रय होकर बड़े अवर्णनीय कष्ट भोग रहे हैं। समाचार पढ़कर मैं अवाक् रह गया। देखा स्वामीजी का स्नायु-तंत्र मानवीय दु:खों के प्रति सेस्मोग्राफ (भूकम्प-मापी यंत्र) से भी अधिक संवेदनशील है।

❑❑❑

माँ की कृपा

स्वामी अशेषानन्द

माँ श्री सारदा देवी दैवी मातृत्व की जीवन्त विग्रह थीं। उनके अनेक शिष्यों तथा भक्तों ने उनकी मधुर-पावन स्मृतियाँ लिपिबद्ध कर रखी हैं। हमारे लिए बँगला ग्रन्थ 'श्रीश्री मायेर पदप्रान्ते' से इस लेख का अनुवाद किया है इलाहाबाद की श्रीमती मधूलिका श्रीवास्तव ने। – सं.)

स्वामी अखिलानन्द और मैं कोलकाता के एक ही जगह 'सेंट पॉल्स कॉलेज' में पढ़ते थे। वे मुझसे एक दर्जे ऊपर थे। वे ही मुझे पहली बार संघ के अध्यक्ष राजा महाराज (स्वामी ब्रह्मानन्द) के पास ले गये। राजा महाराज बलराम बसु के भवन में थे। प्राय: हर सप्ताह हम लोग बलराम-मन्दिर जाकर उनका दर्शन और प्रणाम कर आते। एक दिन शाम को बलराम-मन्दिर जाकर पता चला कि महाराज कहीं बाहर गये हैं। वहाँ कई भक्त मिले। उन लोगों ने पूछा कि क्या मैं उद्‌बोधन जाकर माँ के दर्शन कर आना पसन्द करूँगा? मैंने अखिलानन्द से उनकी इच्छा जाननी चाही। वे बोले – "मुझे यहाँ एक साधु से कुछ काम है। मैं नहीं जा सकूँगा, तुम चले जाओ। मैंने माँ को देखा है, पर तुमने तो नहीं देखा। तुम्हारे लिए यह एक परम सौभाग्य की बात होगी।"

बलराम मन्दिर से पैदल उद्‌बोधन जाने में मुश्किल से दस मिनट लगते हैं। उद्‌बोधन पहुँचकर मैं दफ्तर में बैठ गया। कृष्णलाल महाराज (स्वामी धीरानन्द) मुझे वहाँ देखकर बोले – "मैंने तुम्हें बलराम मन्दिर में कई बार देखा है। तुम्हारे धर्मजीवन का भार कौन लेगा, क्या इस विषय में तुमने कुछ सोचा है?" मैं उन दिनों कान्ट, हेगेल, प्लेटो आदि को खूब पढ़ता था। इनमें प्लेटो ही मेरे सर्वाधिक प्रिय थे। पाश्चात्य दार्शनिकों में मुझे वे ही अग्रगण्य प्रतीत होते थे। अरस्तु की तर्क-प्रणाली भी मुझे बहुत पसन्द थी। फिर प्लेटो के अतिन्द्रिय आदर्श के कारण उनके प्रति भी मेरे मन में बड़ी श्रद्धा थी। मैंने कृष्णलाल महाराज से कहा – "मैं कुछ-कुछ अमेरिकी लड़कों के समान खूब कट्टर स्वभाव का और स्वाधीनता-प्रिय हूँ। सेंट पॉल्स कॉलेज में बाइबिल पढ़ना अनिवार्य है, इसलिए बाइबिल पढ़ता हूँ, लेकिन गीता आदि नहीं पढ़ता।" मेरी बात सुनकर वे थोड़ी देर चुप रहे। फिर बोले – "मगर आध्यात्मिक जीवन के बारे में तुम कुछ नहीं जानते। धर्म-जीवन में एक पथ-प्रदर्शक की जरूरत होती है। वे मानो हाथ में मशाल लिए रास्ता दिखाते चलते हैं। मान लो कि तुम एक ऐसी गुफा में गए हो, जिसमें धुप अँधेरा है। यदि तुम अकेले जाओगे, तो तुम्हारा सिर दिवार से टकरा जाएगा, पर यदि कोई मशाल लेकर तुम्हारे साथ-साथ चले, तो तुम्हें चोट लगने की सम्भावना नहीं रहेगी। तुम निश्चित होकर देव-दर्शन कर सकोगे।" मैंने पूछा – "आप कहना क्या चाहते हैं?" उन्होंने उत्तर दिया – "यही कि माँ ऊपर रहती हैं। तुम्हारे लिए यही उचित है कि उनके पास जाकर कृपा की भिक्षा माँगो, प्रार्थना करो कि वे तुम्हें दीक्षा दें।"

१९१७ ई. की बात है। उन दिनों माँ के बारे में काफी कम लोग जानते थे। माँ की जीवनी या चित्र भी तब प्राप्य नहीं थे। माँ तथा उनकी संगिनियों के कोलकाता आने पर उनके निवास हेतु स्वामी सारदानन्द ने उनके लिए जो घर बनवाया था, उसी उद्‌बोधन ऑफिस की निचली मंजिल के कमरे में मैं बैठा था। ऊपर की मंजिल में स्थित मन्दिर में माँ रहती थीं। स्त्री-भक्तों को हर रोज माँ के दर्शन मिलते थे। पर पुरुष-भक्त केवल मंगल और शनिवार को ही माँ के दर्शन कर पाते थे।

रासबिहारी महाराज (स्वामी अरूपानन्द) माँ की सेवा के लिए उद्‌बोधन और जयरामबाटी दोनों जगहों पर उनके साथ रहते। वे ऑफिस में आकर बोले – "जो माँ के दर्शन करना चाहते हैं, मेरे साथ चलें।" उन्होंने हम लोगों से कह दिया था कि हम लोग माँ से कोई बात न करें, केवल उनके श्रीचरण का स्पर्श तथा प्रणाम करके दूसरी सीढ़ी से नीचे उतर आयें। मैंने रासबिहारी महाराज के पीछे ही माँ के पास जाकर देखा – माँ घूँघट काढ़े बैठी हैं। मैंने माँ को प्रणाम किया। प्रणाम करके सीढ़ी से नीचे उतर आने पर कृष्णलाल महाराज ने मुझसे पूछा – "तुमने माँ से कृपा करने को – दीक्षा देने को कहा?" मैंने कहा – "नहीं महाराज! हमें कुछ बोलने से मना किया गया था।" तब उन्होंने रासबिहारी महाराज से कहा – "रासबिहारी महाराज, तुम इस लड़के को माँ के पास ले जाओ। माँ से कहो कि इसका महाराज के पास आना-जाना है। वे अनुग्रहपूर्वक इस पर कृपा करें।" रासबिहारी महाराज थोड़े कट्टर थे। इस बात को कृष्णलाल महाराज जानते थे। इसलिए उन्होंने और भी कह दिया कि यह ब्राह्मण, सम्भ्रान्त वंश का, कॉलेज का छात्र है, आदि। इसलिए मुझे माँ के दुबारा दर्शन का सुयोग

मिला। इस बार माँ के चेहरे पर घूँघट नहीं था। वे बोलीं – "क्यों बेटा, तुम तो राखाल के पास जाते हो, वही तुम्हें दीक्षा दे सकता है। वह देने का अधिकारी है, तो फिर तुम मुझसे क्यों चाहते हो?" मैंने कहा – "माँ, आप यदि मुझ पर कृपा करें, मैं इसे अपना परम सौभाग्य समझूँगा। मुझे वह ईश-कृपा प्रतीत होगी।" माँ थोड़ी देर चुप रहीं। फिर बोलीं – "ठीक है, ऐसा ही होगा।" तुम दो दिन बाद आओ। गंगा-स्नान करके आना। सुबह कुछ खाना मत। नीचे ऑफिस के कमरे में आकर प्रतीक्षा करना। ठाकुर की पूजा करने के बाद मैं किसी को भेजकर तुम्हें बुला लूँगी। उसके बाद तुम्हारी दीक्षा होगी।"

मैंने नीचे आकर कृष्णलाल महाराज को सब कुछ बताया। वे बड़े खुश हुए। लगा कि उन्हें मुझसे भी अधिक आनन्द हुआ है। उस दिन मैं यह सोचकर नहीं गया था कि दीक्षा के लिए प्रार्थना करूँगा। सहसा ही सारा संयोग घट गया था। उस समय मेरी आयु सत्रह वर्ष थी और तब मैं यह भी नहीं जानता था कि दीक्षा का क्या तात्पर्य है। मुझे केवल इतना ही लगा कि माँ मेरी अत्यन्त अपनी हैं, अपरिचित होकर भी वे मेरी परम आत्मीय हैं। सच कहता हूँ, तब तक मुझे यह नहीं लगा था कि माँ स्वयं जगदम्बा हैं। बाद में पूज्य शरत् महाराज (स्वामी सारदानन्द) ने मेरी आँखें खोल दी थीं। माँ अपनी सारी आध्यात्मिक विभूतियाँ गोपन रखती थीं। मैं केवल उनकी असीम दया, अनन्त स्नेह और अपार करुणा का ही अनुभव करता। पर उस समय यह नहीं समझ सका था कि वे मानवीय रूप में अवतीर्ण स्वयं आद्या-शक्ति हैं।

माँ से दर्शन और बातचीत की सारी बातें मैंने अखिलानन्द जी को बतायीं और कहा कि मुझे नहीं पता कि दीक्षा क्या है, मुझे क्या-क्या करना होगा या किस प्रकार दीक्षा के लिए तैयारी करनी होगी। उन्होंने आश्वासन देते हुए कहा कि चिन्ता की कोई बात नहीं, वे मुझे सब समझा देंगे। जिस दिन दीक्षा होनी थी, उसके पूर्व की शाम को मैं कॉलेज स्ट्रीट बाजार जाकर कुछ फल, मिठाई तथा फूल खरीद लाया। और माँ को देने के लिए एक लाल किनारी की साड़ी खरीदी।

वह रात थोड़ी चिन्ता में ही बीती। अखिलानन्द जी से मैंने सुना था कि दीक्षा के समय गुरु शिष्य को जो मंत्र देते हैं, शिष्य को वही मंत्र ग्रहण करना पड़ता है। इस विषय में शिष्य को अपनी कोई इच्छा नहीं व्यक्त करनी चाहिए। परन्तु मैं जो इतने दिनों से दृढ़तापूर्वक अपनी एक इष्टमूर्ति का ध्यान कर रहा था। यदि माँ उसे बदल दें, तो क्या करूँगा? मैं उसे चुपचाप स्वीकार नहीं कर सकूँगा। मुझे मुँह खोलकर बोलना ही होगा कि 'माँ, मुझे यह पसन्द है।' काफी समय इसी चिन्ता में बीता। मैं सो नहीं सका।

अगले दिन प्रात: अखिलानन्द और मैं गंगा-स्नान करके उद्‌बोधन के उसी कार्यालय में प्रतीक्षा करते रहे। यथासमय बुलावा आते ही मैं ऊपर गया। माँ ने स्वयं ही पूजा की और तदुपरान्त मुझे मंत्र प्रदान किया। और इसके साथ-ही-साथ मेरी हृदय-तंत्री झंकृत हो उठी। मैंने मन-ही-मन जैसा चाहा था, माँ ने ठीक वैसा ही मंत्र मुझे दिया। मैं अवाक् होकर सोचने लगा – नि:सन्देह माँ आसाधारण हैं। वे अन्तर्यामी हैं, मेरे मन की सारी बातें वे जानती हैं। मेरा हृदय तृप्ति से भर गया। दीक्षा के बाद माँ ने मुझसे पूछा – "तुम दोपहर में यहीं प्रसाद लोगे न?" मैं बोला – "माँ, मैंने पूरे दिन की छुट्टी नहीं ली है। केवल एक समय की छुट्टी ली है।" तब माँ ने मुझे कुछ फल-प्रसाद दिया। मैं सीढ़ी से होकर नीचे उतर आया।

दीक्षा के बाद रासबिहारी महाराज से भेंट हुई। वे बोले – "माँ से तुम्हें दीक्षा मिली है, पर तुम्हारे पास जपमाला तो नहीं है।" मैंने कहा – "क्या आप माले की व्यवस्था कर सकेंगे?" वे राजी हो गये। मैंने उन्हें माले के लिए कुछ पैसे दिये। उन्होंने मुझसे दो दिन बाद आने को कहा। इस बीच वे माला मँगवाकर माँ के हाथों शोधन कराकर रखेंगे। दो दिन बाद जाने पर उन्होंने बताया कि उन्होंने मेरे लिए माले के प्रत्येक दाने की शुद्धता की जाँच की है। मैं अवाक् रह गया। बोला – "माला के दाने शुद्ध हैं या नहीं, इसकी परख कैसे की जाती है? कोई मनुष्य सच्चा है कि नहीं यह तो हम लोग परख सकते हैं, पर माले के दानों की भी क्या उसी प्रकार जाँच की जा सकती है?" उन्होंने मुझे पद्धति समझा दी। एक बरतन में पानी लेकर कर उसमें एक दाना डाल दिया जाता है। यदि दाना डूब जाय, तो समझना कि दाना शुद्ध है और तैरने लगे तो समझना कि शुद्ध नहीं है। तब मैं माला लेकर ऊपर माँ के पास गया। माँ ने माला लेकर उस पर जप करके दिखा दिया कि माले से कैसे जप करना होगा। उस दिन उन्होंने मुझे यह भी सिखा दिया कि इष्टमूर्ति का ध्यान और चिन्तन कैसे करना होगा।

इस शुभ दिन मुझे माँ से जो सम्पदा मिली थी, उसे धारण करने की शक्ति मुझे बहुत दिनों बाद स्वामी सारदानन्द जी से मिली थी। कुछ दिन तक मैंने सारदानन्द जी के निजी सेवक के रूप में काम किया था। मेरा विश्वास है कि यह माँ की ही कृपा से सम्भव हुआ था। उन दिनों सारदानन्द जी मुझसे जो पत्र लिखवाते, उनमें शिष्यों को आध्यात्मिक जीवन के विषय में विशेष रूप से उपदेश देते। यदि कोई शिष्य मंत्र भूल गया होता, तो उसकी चिट्ठी वे स्वयं लिखते। बाकी सभी चिट्ठियाँ वे मुझसे ही लिखवाते। एक दिन महाराज के ध्यान के बाद मैं उन्हें प्रणाम करके बोला – "महाराज, माँ ने बड़े सरल भाव से मुझे आध्यात्मिक उपदेश दिये हैं। उन्होंने मुझसे सुबह-शाम निर्दिष्ट संख्या में मंत्र जपने या विशेष दिन भी कुछ करने को नहीं कहा है। उन्होंने मुझे कोई निर्दिष्ट साधना भी नहीं बताया है। महाराज, मुझे एक ऐसी पद्धति की जरूरत है, जिससे मैं एक-एक कदम आगे बढ़ सकूँ। आप कृपा करके कुछ और

बता दीजिए।'' सारदानन्द जी ने कहा – ''तुम्हारे जैसा कोई दूसरा मूर्ख मैंने नहीं देखा। माँ स्वयं जगन्माता हैं। तुम जिस साधन-प्रणाली की बात कह रहे हो, वह तो साधारण गुरु लोग देते हैं। पर माँ की बात बिल्कुल अलग है। माँ ने तुम्हें जो कुछ दिया है, उसी को तुम अपने आध्यात्मिक जीवन के बारे में अन्तिम बात समझना। तुम अपना मंत्र पकड़कर रखो। उसी मंत्र का जप करो, अपने इष्टमूर्ति का ध्यान-चिन्तन करो, बस। जब तुम्हारे मन में ईश्वर-दर्शन की आकांक्षा जगेगी, तब तुम्हारा मन ही उसे समझ लेगा। तब तुम्हारा मन उस दिव्य भाव में स्थिर हो जायेगा और तुम्हारी सारी मनो-कामनाएँ पूर्ण हो जायेंगी। क्या तुम कहना चाहते हो कि माँ ने तुम्हें जो दिया है, मुझे उसके ऊपर और भी कुछ देना होगा? मैं स्वयं भी तो उन्हीं की कृपा से ही यहाँ हूँ।'' स्वामी सारदानन्द की बातों से मेरे नेत्र खुल गये। मैं समझ गया कि माँ कोई साधारण साधिका नहीं हैं। वे स्वयं साक्षात् भगवती, जगदम्बा की मूर्त विग्रह और ब्रह्म का लीलामय रूप हैं। जैसे अग्नि और उसकी दाहिका शक्ति अभिन्न हैं, वैसे ही श्रीरामकृष्ण और माँ श्री सारदा देवी एक अविच्छिन्न आध्यात्मिक बन्धन में परस्पर आबद्ध हैं। उस आध्यात्मिक बन्धन के स्वरूप को न तो हम लोग बुद्धि के द्वारा समझ सकते हैं और न ही किसी दार्शनिक ज्ञान की सहायता से उसकी उपलब्धि कर सकते हैं।

यदि कोई पूछे कि माँ का जीवन क्या सिखाता है? – तो उत्तर में पहले तो मैं यही कहूँगा कि उनके जीवन में हम चिर-आराध्या कुमारी, पूर्ण पवित्रता के विग्रह पाश्चात्य मैडोना के आदर्श को मूर्तिमान देखते हैं। इसके अतिरिक्त भी उन्होंने गृहस्थी के परिवेश में चुपचाप अपना पवित्र जीवन बिताकर सबके समक्ष गृही-जीवन का आदर्श प्रस्तुत किया है। अपने जीवन के द्वारा वे दिखा गयी हैं कि गृही-भक्त किस प्रकार ईश्वर के लिए चेष्टा और उनकी प्राप्ति करेंगे। मुझे लगता है कि श्रीरामकृष्ण के जीवन में संन्यास का आदर्श ही अधिक व्यक्त होता है। अपने युवा भक्तों को उन्होंने जैसी शिक्षा दी है, उससे यही प्रकट होता है। परन्तु यदि गृही-भक्त आलोक पाना चाहते हों, तो उन्हें विशेष रूप से माँ को ही निहारना होगा। वे बड़े सहज भाव से साधना-विषयक उपदेश देती थीं। हम लोग सोचते हैं, जो कुछ असाधारण हैं वह निश्चित रूप से थोड़ा चकाचौंध-पूर्ण, अप्राकृतिक या अस्वाभाविक होगा। जो कुछ स्वाभाविक, सहज-सरल हैं, उसे हम अत्यन्त साधारण मानकर उसकी अवज्ञा करते है। माँ के उपदेश देने की पद्धति बड़ी सहज थीं। **उनके जीवन से मैंने जो दो- एक चीजें सीखी हैं, उनमें से एक है पवित्रता, दूसरी है सरलता। वस्तुत: जीवन की हर महान् वस्तु ही अत्यन्त सरल है।** शैशव में हम लोग जिस मातृ-स्नेह का आस्वादन करते हैं, वह कितना सरल है। पर माँ की इस असाधारण सरलता में ऐसी एक सूक्ष्मता मिश्रित रहती थी कि उन्हें समझना कठिन था। मैंने भी उन्हें बहुत अल्प ही समझा है। तथापि मैंने देखा कि उनकी उपस्थिति में एक आध्यात्मिक परिवेश बन जाता, कृपा तथा शान्ति के स्पर्श की स्पष्ट अनुभूति होती और वह स्थान तीर्थ-स्वरूप हो जाता। केवल श्रीरामकृष्ण ही ठीक-ठीक समझ सके थे कि वे कौन थीं और किस महान् आदर्श की प्रतीक थीं? इसलिए उन्होंने गोलाप-माँ को निम्नलिखित घटना के द्वारा माँ के स्वरूप के बारे में संकेत दिया था।

एक दिन मैंने गोलाप-माँ से कहा था – ''श्रीमाँ के स्थूल शरीर में रहते ही यदि मैं संघ में प्रवेश ले लेता, तो उनकी सेवा कर पाता।'' इस पर गोलाप-माँ बोलीं – ''कौन उन्हें समझ सका है? मैं माँ के इतने पास रही हूँ, तो भी समझ नहीं पायी।'' इसके बाद वे स्वयं ही वह घटना बताने लगीं।

श्रीरामकृष्ण जब दक्षिणेश्वर से श्यामपुकुर चले गये, तब गोलाप-माँ ने किसी से सुना कि माँ ठाकुर को बहुत अधिक खिला रही थीं, इसलिए ठाकुर की बीमारी बढ़ती जा रही थी। और इसी पर नाराज होकर ठाकुर श्यामपुकुर चले गये। एक दिन जब माँ ने यह बात सुनी, तो तत्काल पैदल ही चलकर वे श्रीरामकृष्ण के पास जा पहुँचीं और उनसे पूछा – ''तो तुम मेरी सेवा से असन्तुष्ट हो? और इसलिए श्यामपुकुर चले आये हो?'' माँ की बात सुनकर श्रीरामकृष्ण अवाक् रह गये। बोले – ''ऐसी बात किसने कही?'' माँ ने बताया कि उन्होंने अमुक से सुना है कि गोलाप-माँ ऐसा कह रही है। यह बात सुनकर श्रीरामकृष्ण बड़े नाराज हुए। बोले – ''वह बामनी जरा यहाँ आये तो सही, मैं उसे अच्छी शिक्षा दूँगा।'' जब श्रीरामकृष्ण नाराज होते, तो कोई उनके पास जाने का साहस नहीं कर पाता था।

इस घटना के ठीक अगले दिन ही गोलाप-माँ ठाकुर के पास गयीं। श्रीरामकृष्ण ने उनसे पूछा – ''तुमने ऐसी बात कही? जाओ, उसके पास जाकर क्षमा माँगो। वह यदि तुमसे नाराज रही, तो मेरे पास भी तुम्हारे लिए आश्रय नहीं होगा।'' उसके बाद श्रीरामकृष्ण ने कहा था – ''वह सारदा है, सरस्वती है। साधारण मानवी के समान दिखने पर भी वस्तुत: वह स्वयं साक्षात् जगदम्बा है, जिसकी कृपा कटाक्ष से मनुष्य को ज्ञान-लाभ होता है। वह मनुष्यों को ईश्वरीय ज्ञान देने के लिए, जगत् को आलोक का मार्ग दिखाने के लिए अवतीर्ण हुई है।'' गोलाप-माँ ने मुझे बताया कि ठाकुर की यह बात सुनकर वे श्यामपुकुर से दक्षिणेश्वर तक पूरा रास्ता रोते-रोते आयी थीं। वहाँ पर वे माँ के चरणों में गिरकर बोलीं – ''माँ दया करके तुम मुझे क्षमा करो। मैंने अमुक से सुनकर कहा था। मेरा ऐसा करना उचित नहीं था। ठाकुर मुझसे बहुत नाराज हैं। यदि तुम मुझे क्षमा न करो, तो वे फिर मुझे अपना दर्शन नहीं करने देंगे।'' श्रीमाँ उनके पीठ पर हल्की-सी चपत जमाते हुए बोलीं

– "भूल जाओ, गोलाप, भूल जाओ। तुम मेरी बेटी हो। माँ क्या कभी अपनी बेटी से रुष्ट हो सकती है? ठाकुर से कहो – मैं तुमसे पूर्ण सन्तुष्ट हूँ।" श्रीरामकृष्ण ने स्वयं ही गोलाप-माँ की आँखे खोल दी थीं, जिसके फलस्वरूप वे माँ की अनुपम दैवी महिमा और शक्ति की किंचित् धारणा कर सकी थीं।

माँ के शिष्य चन्द्रमोहन दत्त से भी मैंने और एक घटना सुनी है। उस समय मैं उद्बोधन कार्यालय में व्यवस्थापक के सहयोगी के रूप में कार्य करता था और चन्द्रबाबू पुस्तकों की पैकिंग का कार्य देखते थे। एक दिन वे स्वामी शुद्धानन्द जी (जो बाद में रामकृष्ण संघ के अध्यक्ष हुए) के साथ गंगा नहाने जा रहे थे। शुद्धानन्द जी ने चन्द्रबाबू से कहा – "तुम तो माँ के पास जाते हो। उनके पास जाकर क्या माँगते हो?" चन्द्रबाबू ने कहा – "मैं उनसे थोड़ा-सा मिठाई-प्रसाद माँगता हूँ।" इस पर महाराज ने कहा –"तुम माँ के पास क्या केवल प्रसाद ही माँगने आये हो? क्या केवल इसीलिए तुम यहाँ आये हो? माँ मुक्तिदायिनी हैं। तुम माँ के पास जाकर ब्रह्मज्ञान माँगो, मुक्ति माँगो।" चन्द्रबाबू ने कहा – "ठीक है महाराज, मैं जाकर वहीं माँगूँगा।" उद्बोधन लौटते ही चन्द्रबाबू माँ के कमरे में गये। उस समय माँ दोपहर की पूजा कर रही थीं। माँ ने उन्हें देखा, परन्तु पूजा में बैठी होने के कारण कुछ कहा नहीं। इशारे से पूछा कि उन्हें क्या चाहिए? चन्द्रबाबू ने बाद में कहा था – "मेरा दिल जोरों से धड़कने लगा। मैंने सोच रखा था कि कहूँगा – माँ, कृपा करके मुझे ब्रह्मज्ञान दो। यदि वह बहुत अधिक है, तो मुक्ति दो। यदि वह भी न हो सके, तो अन्ततः मोक्ष दो। लेकिन मेरे मुँह से कोई बात ही नहीं निकली। ऐसा लगने लगा कि मेरी सांस ही रुक जायेगी। किसी प्रकार मैंने कहा – "प्रसाद चाहिए, माँ।" माँ ने उँगली से चारपाई के नीचे दिखा दिया। वहाँ एक प्लेट में ढँककर प्रसाद रखा था। उसमें से कुछ रसगुल्ले, सन्देश और चमचम लेकर मैं नीचे उतर गया। जाकर मैंने स्वामी शुद्धानन्द जी से कहा – "महाराज, मैंने निश्चय किया था कि ब्रह्मज्ञान माँगूँगा। लेकिन कुछ घटना हो गयी। क्या घटित हुआ, मुझे भी ठीक से नहीं मालूम।" इससे समझा जा सकता है कि ऐसी प्रार्थना किसी को सिखायी नहीं जाती। जैसे शिशु माँ से माँगता है, माया के बन्धन से मुक्ति पाने के लिए वैसी ही स्वतःस्फूर्त व्याकुलता आनी चाहिए। तो भी माँ के प्रति चन्द्रमोहन की जैसी भक्ति थी और माँ का भी उनके प्रति जैसा स्नेह था, उससे मेरा विश्वास है कि अन्तिम क्षण में उन्होंने निश्चय ही इस आपेक्षिक जगत् से मुक्त होकर श्रीमाँ के स्नेहमय गोद में चिर विश्राम पाया होगा।

चन्द्रबाबू के कारण ही मेरा स्वामी सारदानन्द जी से लगाव हुआ और मैं स्वयं को उनकी सेवा में लगा सका। मैंने उनसे सुना था – एक बार माँ के पास जाकर उन्होंने.आन्तरिक प्रार्थना की थी – "माँ, मैं तुम्हारी सेवा करना चाहता हूँ।" सुनकर माँ ने कहा – "नहीं बेटा, सरला (जो बाद में प्रव्राजिका भारतीप्राणा नाम से सारदा मठ की अध्यक्ष हुई थीं) तो है। बल्कि तुम मेरे बेटे शरत् की सेवा करो। यदि तुम हमेशा उसके अनुगत होकर अविचिलित तथा आन्तरिक भाव से उसकी सेवा करते रहे, तो तुम्हें ब्रह्मज्ञान होगा। जो कोई भी इस प्रकार शरत् की सेवा करेगा, उसे सर्वोच्च गति की प्राप्ति होगी।"

चन्द्रबाबू से ही मुझे माँ का यह कथन सुनने का सौभाग्य हुआ था और इसलिए मैं शरत् महाराज को छोड़कर कभी अन्यत्र कहीं जाने की इच्छा नहीं की। मैंने निश्चय किया था कि जितने दिन ये महापुरुष मुझे अपनी सेवा का सुयोग देंगे, उतने दिन उनके पास ही रहूँगा। एक बार कुम्भ-मेले के अवसर पर साधु लोग इलाहाबाद जा रहे थे। सारदानन्द जी ने मुझसे पूछा – वहाँ बहुत-से साधुओं का समागम होगा, तुम भी जाना चाहोगे क्या? मैंने कहा – "महाराज, मैं आपके पास मजे में हूँ। मैं और कहीं नहीं जाना चाहता।"

पहली बार जिस दिन मैं माँ के पास गया था, उस दिन अन्य-मनस्क भाव से अपने जूते चौखट पर रख जाने के कारण स्वामी सारदानन्द जी ने मुझे बहुत डाँटा था। इसके फलस्वरूप मेरे मन में सारदानन्द जी के बारे में एक तरह के भय का संचार हुआ था और मैं उनसे दूर-दूर ही रहता था। बाद में जो उनके और मेरे बीच की दूरी दूर हो गयी थी और मुझे उनकी सेवा का सुयोग मिला था, उसे भी मैं माँ की कृपा से ही सम्भव हुआ मानता हूँ।

राम, कृष्ण, बुद्ध, ईसा, श्रीरामकृष्ण और माँ जैसी महान् विभूतियाँ एक आदर्श जीवन दिखाने के लिए ही इस पृथ्वी पर आती हैं। वे लोग मानव-मात्र को दिखा देते हैं कि ईश्वर-प्राप्ति किसी भी अन्य घटना के समान ही वास्तविक है। उनका पूत जीवन मानव-जाति के लिए सर्वोच्च आशीर्वाद स्वरूप है। मेरा विश्वास है कि जब तक मैं माँ के श्रीचरणों का अनुसरण करके चलूँगा, जब तक उनकी असीम कृपा द्वारा प्राप्त मंत्र की मर्यादा की रक्षा कर सकूँगा, तब तक मैं अपनी सन्तुष्टि के अनुसार उनका कार्य करने में सक्षम रहूँगा। उनके बारे में कुछ कहना मेरे लिए सचमुच ही कठिन है। मैंने केवल उनके श्रीचरणों को स्पर्श किया है, उनके श्रीमुख का दर्शन किया है और उनका कण्ठ-स्वर सुना है। उनके श्रीचरणों में अपनी विनम्र प्रणति तथा श्रद्धा निवेदित करते हुए मैं केवल इतना ही कह सकता हूँ कि इस जीवन में मुझे जो कुछ भी मिला है, वह उन्हीं की कृपा से ही मिला है। आज मेरा पूरा मन-प्राण इस आशा में उन्मुख होकर उन्हीं की ओर निहार रहा है कि वे इस मायामय जगत् से उठाकर मुझे उस जगत् में ले जायेंगी, जहाँ चिर ज्योति, दिव्य सौन्दर्य, नित्य आनन्द और शाश्वत सत्य विराजते हैं।

❖ (क्रमशः) ❖

दैवी सम्पदाएँ – (२) चित्तशुद्धि

भैरवदत्त उपाध्याय

दैवी-सम्पत्तियों में 'अभयम्' के बाद 'सत्त्व-संशुद्धि' की गणना है। 'सत्त्व-संशुद्धि' का अर्थ सत्त्व की अथवा सत्त्व से सम्यक् शुद्धि है – **सत्त्वस्य संशुद्धिः सत्त्वेन संशुद्धिः सत्त्वात् संशुद्धिर्वा**। श्रीधरी व्याख्या में इसे – **सत्त्वस्य चित्तस्य संशुद्धिः सुप्रसन्नता** अर्थात् चित्त की प्रसन्नता और शांकर भाष्य में – **सत्त्वस्य अन्तःकरणस्य संव्यवहारेषु पर-वंचन-मायानृतादि वर्जनं शुद्धभावेन व्यवहार इत्यर्थः** – अर्थात् अन्तःकरण का दूसरों के प्रति छल-कपट, झूठ आदि से रहित शुद्ध व्यवहार – लिखा है।

चित्त की प्रसन्नता मानसिक पवित्रता की अभिव्यक्ति है। मन के रजोगुण से मुक्त हो जाने पर व्यक्ति को उत्तम सुख की अनुभूति होती है। (गीता ६/२७) इन्द्रियाँ राग-द्वेष से मुक्त हो जाने पर विषयों का भोग नहीं करतीं। स्वाधीनचेता मनुष्य प्रसन्नता प्राप्त करता है। उसके सारे दुख दूर हो जाते हैं और बुद्धि स्थिर हो जाती है। (२/६४-६५) वह परम शान्ति का उपभोग करता है। (२/६६) रागद्वेषादि के कलुष से निर्धौत मन का व्यवहार ठगी, धोखाधड़ी तथा झूठ का नहीं होता। उसकी सम्पूर्ण क्रियाएँ शुद्ध भाव से संचालित होती हैं।

'मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार' का समन्वित नाम अन्तःकरण है। मन संकल्प-विकल्पात्मक है। बुद्धि निश्चय करने का कार्य करती है। चित्त चिन्तनशील चेतन तत्त्व है और अहंकार कर्तृत्व-भोक्तृत्वाभिमान है। ये चारों वृत्तियाँ अति द्रुत गति में कार्य करने के कारण अभिन्न प्रतीत होती हैं। पाश्चात्य मनोवैज्ञानिक इन चारों को मन के भीतर ही समेट कर चलता है। भारतीय चिन्तकों और साधकों ने मन की महत्ता स्वीकार की है। **'न्याय-दर्शन में' – युगपत् ज्ञानानुत्पत्तिः मनसो-लिङ्गम्** – के रूप में मन को परिभाषित किया है। मन एक समय एक ही काम कर सकता है, दो नहीं। यही बात चरक-संहिता में भी कही गई है – **मनसो ज्ञानस्य अभावो भाव एव वा** – ज्ञान होना या न होना मन का लक्षण है, अर्थात् एक काल में एक वस्तु का ज्ञान होना और दूसरी का न होना, अथवा दो वस्तुओं के ज्ञानों का एक ही साथ उत्पन्न न होना मन का धर्म है।

शरीर से परे इन्द्रियाँ हैं और इन्द्रियों से परे मन है। मन के सहयोग से ही इन्द्रियाँ विषयों का उपभोग करती हैं। यदि मन का सहयोग इन्द्रियों को न मिले, तो वे क्रियाशील होने पर भी अनुभूतिशून्य होंगी। बृहदारण्यक उपनिषद् में लिखा है – "मेरा मन अन्यत्र था इसलिए मैंने नहीं देखा, मेरा मन अन्यत्र था, इसलिए मैंने नहीं सुना (मुनष्य ऐसा जो कहता है, इसी से निश्चय होता है कि) वह मन से ही देखता है और मन से ही सुनता है।" (११५/३)

मन ही बन्धन व मोक्ष का कारण है – **मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः**। श्रीमद्भागवत में मन को ही संसार-चक्र का कारण निरूपित किया गया है – **मनः परं कारणं संसार-चक्रस्य**। (११/२२/४३) चंचलता मन का धर्म है – **चंचलत्वं मनोधर्मः**। इसे वश में लाना वायु को वश में लाने के समान दुष्कर है। जैसे वायु जल में नाव को हर लेती है, वैसे ही इन्द्रियों के पीछे-पीछे चलनेवाला मन व्यक्ति के विवेक का हरण कर लेता है। (२/६७) मन प्रायः सत्त्व, रज और तम इन तीन गुणों से रंजित रहता है। मूल रूप में तो वह शुद्ध होता है, क्योंकि उसमें निर्विषयिता होती है। जिस प्रकार जल का कोई रंग नहीं होता, उसी प्रकार वह भी रंगहीन है, पर उसका स्वभाव रंगीन होने का अवश्य है। जैसे श्वेत वस्त्र जिस रंग में डुबोया जाता है, उस पर वही रंग चढ़ जाता है। वैसे ही मन भी अपनी रंजना-वृत्ति के कारण सात्त्विक, राजस् और तामस् गुणों में रँग जाता है। सत्त्वगुण निर्मल, प्रकाशक और अनामय है, इसलिए वह जीवात्मा को सुख की आसक्ति तथा ज्ञान के अभिमान से निरुद्ध करता है। रजोगुण से रागात्मक काम-क्रोध की उत्पत्ति होती है। तृष्णा तथा आसक्ति का उद्भव होता है। प्रमाद, आलस्य और निद्रा अज्ञान से उत्पन्न होनेवाले उस तमोगुण के परिणाम हैं, जो समस्त प्राणियों को मोहित करता है। (१४/६-८) विद्यारण्य ने अपनी पंचदशी (२/१४-१६) में इसी बात को इन शब्दों में कहा है –

> **वैराग्यं क्षान्तिरौदार्यमित्याद्याः सत्त्वसम्भवाः।**
> **कामक्रोधौ लोभयत्नावित्याद्या रजसोत्थिताः।।**
> **आलस्यभ्रान्तितन्द्राद्या विकारास्तमसोत्थिताः।**
> **सात्त्विकैः पुण्यनिष्पत्तिः पापोत्पत्तिश्च राजसैः।**
> **तामसैर्नोभयं किन्तु वृथायुः क्षपणं भवेत्।।**

– "सत्त्व से वैराग्य, क्षमा, उदारता आदि; रजस् से काम, क्रोध, लोभ, चेष्टा आदि; और तमस् से आलस्य, भ्रान्ति, तन्द्रा आदि विकार पैदा होते हैं। सत्त्वगुण से पुण्यों की तथा रजोगुण से पापों की उत्पत्ति होती है और तमोगुण से दोनों नहीं होते, अपितु वृथा ही आयुनाश होता है।"

सत्त्वादि तीनों गुणों का चक्र है, जो निरन्तर घूमता रहता है। जब सत्त्वगुण ऊपर होता है, तब रजोगुण और तमोगुण दब जाते हैं। जब रजोगुण ऊपर उठता है, तब सत्त्व और तमस् की स्थिति निम्नगामी हो जाती है। इसी प्रकार तमोगुण

की प्रधानता होने पर सत्त्व और तमस् गौण हो जाते हैं। यह क्रम सततगामी है। यदि मृत्यु के समय सात्त्विक भावों का उदय होता है तो व्यक्ति को दिव्य लोकों की, राजसभाव में कर्मासक्त मनुष्य-योनि और तामस् दशा में कीट-पतंग आदि मूढ़ योनियाँ प्राप्त होती हैं। सत्त्व का सुख, ज्ञान, वैराग्य आदि निर्मल फल; रजस् का फल दु:ख और तमस् का फल अज्ञान है। (१४/१८) भगवान कहते हैं कि जन्म, मरण व वार्धक्य आदि के दुखों से मुक्ति पाकर यदि अमृत का पान करना है, तो इन तीनों गुणों के पार जाना होगा। (१४/२०)

मन के दो स्तर हैं, जिनमें मन क्रियाशील होता है – **चेतन और अचेतन**। चेतन स्तर पर सभी क्रियाएँ सामान्यत: अहं भाव से युक्त होती हैं। अचेतन स्तर पर अहंकार की भावना लुप्त रहती है। एक इससे भी ऊँचा स्तर है, जिस पर मन कार्य कर सकता है। मन सापेक्ष चेतना के इन दोनों स्तरों के भी ऊपर जा सकता है। जैसे अचेतन का स्तर चेतन के नीचे है, वैसे ही इस सापेक्ष चेतन के ऊपर भी एक स्तर है, जिसे **अतिचेतन** कहते हैं। इसमें भी अहंकार की भावना लुप्त रहती है। इस स्तर में पहुँचकर मन अपनी शुद्ध अवस्था में होता है और समाधिस्थ हो जाता है।

योग-दर्शन में मन की अवस्थाएँ निरूपित हैं – क्षिप्त मूढ, विक्षिप्त, एकाग्र और निरुद्ध। स्वामी विवेकानन्द जी ने उन्हें इन शब्दों में समझाया है – "क्षिप्त मन चारों ओर बिखर जाता है और कर्म-वासना प्रबल रहती है। इस अवस्था में मन की प्रवृत्ति केवल सुख और दुख इन दो भावों में प्रकाशित होने की होती है। मूढ अवस्था तमोगुणात्मक है और इसमें मन की प्रवृत्ति औरों का अनिष्ट करने में होती है। विक्षिप्त अवस्था वह है, जब मन अपने केन्द्र की ओर जाने का प्रयत्न करता है। यहाँ पर भाष्यकार कहते हैं कि विक्षिप्त अवस्था देवताओं के लिए स्वाभाविक है और क्षिप्त तथा मूढावस्था असुरों के लिए। एकाग्र अवस्था तभी होती है, जब मन निरुद्ध होने का प्रयत्न करता है और निरुद्ध अवस्था ही हमें समाधि में ले जाती है।"

गोस्वामी तुलसीदास जी ने अपने 'रामचरित-मानस' में मानस-रोगों का उल्लेख किया है –

सुनहु तात अब मानस रोगा।
जिन्ह तें दुख पावहिं सब लोगा।। ७/१२०

काम, क्रोध, लोभ, मोह, विषय-वासना, ममता, ईर्ष्या, हर्ष-विषाद, अहंकार, दंभ, कपट, मद, मान, कुटिलता, तृष्णा – त्रिविध एषणाएँ, मत्सर, अविवेक आदि अनेक रोग हैं, कहाँ तक कहूँ – 'कुरोग अनेका।' मनुष्य एक व्याधि से ही मर जाते हैं, ये तो अनेक असाध्य व्याधियाँ हैं, जो जीव को निरन्तर पीड़ित करती रहती हैं। इनके रहते क्या वह समाधि प्राप्त कर सकता है? नियम, धर्म, आचार, तप, ज्ञान, यज्ञ, जप, दान आदि करोड़ों औषधियाँ हैं, पर बिना ईश्वर को पहचाने, बिना उनकी कृपा के इनका निदान असम्भव है –

एक ब्याधि बस नर मरहिं ए असाधि बहु ब्याधि।
पीड़हिं सन्तत जीव कहुँ, सो किमि लहै समाधि।।
नेम, धर्म, आचार, तप, ग्यान, जग्य, जप, दान।
भेषज पुनि कोटिन्ह नहिं, रोग जाहिं हरि जान।।
(७/१२१/क-ख)

* * *

राम कृपाँ नासहिं सब रोगा।
जौं एहि भाँति बनै संयोगा।। ७/१२१/५

तुलसीदास जी का कथन निगमागम सम्मत है। प्रमाण स्वरूप आयुर्वेद के प्रणेता महर्षि चरक की उक्ति उद्धृत है – **रजस्तमश्च मानसदोषौ, तयोर्विकारा: काम-क्रोध-लोभ- मोहेर्ष्या मानमदशोक चित्तोद्वेग-भय-हर्षादय:।** (चरक संहिता, विमानस्थान, ६/५) रजोगुण और तमोगुण मन के दोष हैं। काम, क्रोध, लोभ, मोह, ईर्ष्या, मान, मद, शोक, चित्त का उद्वेग, भय, हर्ष आदि उनके विकार हैं। इनका निदान है – **ज्ञान-विज्ञान-धैर्य-स्मृति-समाधिभि:।** (वही, सूत्र-स्थान, १५८) ❖ **(क्रमश:)** ❖

(अगले अंक में मन की शुद्धि के उपाय)

१. विवेकानन्द साहित्य, खण्ड १, पृ. ११८

मेरे उर की व्यथा हरो

जितेन्द्र कुमार तिवारी

अन्तर्यामी ! पीड़ाओं से
मेरा जीवन मुक्त करो।
कुँठाएँ-बाधाएँ नाशो
औ प्रकाश से युक्त करो।
मेरे उर की व्यथा हरो।।

हे जगत्राता जीवन-नौका
भवसागर से पार करो।
अपनी करुणा को विस्तारो
मेरा भी उद्धार करो।
मेरे उर की व्यथा हरो।।

आशुतोष, असफलताओं में
मत मुझको असमर्थ करो।
नई प्रेरणा दो जीवन को
और नहीं अब व्यर्थ करो।
मेरे उर की व्यथा हरो।।

अलवर में स्वामी विवेकानन्द (३)

स्वामी विदेहात्मानन्द

(१८९३ ई. में अमेरिका के शिकागो नगर में आयोजित सर्व-धर्म-महासभा में पहुँचकर अपना ऐतिहासिक व्याख्यान देने के पूर्व स्वामी विवेकानन्द ने एक अकिंचन परिव्राजक के रूप में उत्तरी-पश्चिमी भारत का व्यापक भ्रमण किया था। इस लेखमाला में प्रस्तुत है – विविध स्रोतों से संकलित तथा कुछ नवीन तथ्यों से संबलित उनके राजस्थान-भ्रमण तथा वहाँ के लोगों से मेल-जोल का रोचक विवरण। – सं.)

मंगलसिंह : एक संक्षिप्त परिचय

महाराज़ा मंगलसिंह (१८५९-१८९२ ई.) पन्द्रह वर्ष की आयु में १८७४ में अलवर राज्य की गद्दी पर आसीन हुए। अगले वर्ष उन्होंने शिक्षा ग्रहण करने हेतु अजमेर के मेयो कॉलेज में प्रवेश लिया। १८७७ में १८ वर्ष की आयु में उनका किशनगढ़ की राजकुमारी से विवाह हुआ और उन्हें शासन के सारे अधिकार सौंप दिये गये। उनका दूसरा विवाह रतलाम की राजकुमारी से १८७८ में हुआ, जिनकी कोख से २४ जून १८८२ ई. को उनके उत्तराधिकारी कुमार जयसिंह का जन्म हुआ। १८८९ में उन्हें महाराव की उपाधि प्राप्त हुई। अलवर से लगभग ३५ कि.मी. दूर सरिस्का के सुप्रसिद्ध अभयारण्य के किनारे उनका एक भव्य राजप्रासाद स्थित है, जिसमें अंग्रेजों के साथ ठहरकर वे जंगल में शिकार पर जाया करते थे। आज भी उसमें अधिकांशत: विदेशी यात्री ठहरा करते हैं। स्वामीजी के भ्रमण के दौरान सम्पर्क में आये अनेक राजाओं में ये ही सर्वप्रथम थे। २२ मई १८९२ में ३४ वर्ष की आयु में नैनीताल में देहान्त हुआ था।

महाराजा का शंका-समाधान

दीवान साहब का पत्र पाकर महाराजा राजधानी में आये और तत्काल ही दीवानजी की हवेली में गए। स्वामीजी को सन्देश भेजा गया। उनके हवेली में आते ही राजा ने अत्यन्त श्रद्धा के साथ उन्हें प्रणाम कर स्वागत करते हुए उन्हें आसन प्रदान किया। उन्होंने पहला प्रश्न किया, "स्वामीजी महाराज, सुना है कि आप अद्वितीय विद्वान् हैं, तो इस प्रकार भटकते न फिरकर आप सहज ही तीन-चार हजार रुपये कमा सकते हैं। तो फिर इस प्रकार क्यों घूम रहे हैं?"

उत्तर में स्वामीजी बोले, "महाराज, क्या आप मुझे बता सकते हैं कि राजकाज छोड़कर अँग्रेजों का संग करना और शिकार खेलना आपको क्यों इतना भाता है?"

मंगल सिंह थोड़ा सोचकर बोले, "क्यों का जबाब तो नहीं दे सकूँगा। पर हाँ, अच्छा लगता है।" राजा जब तक उत्तर सोच रहे थे तब तक उनके कर्मचारीगण भयभीत हो रहे थे कि स्वामीजी की ओर महाराजा को ऐसा प्रश्न करना थोड़ा ज्यादा ही साहस का कार्य हो गया लगता है। परन्तु राजा का सहज उत्तर सुनकर सबने समझ लिया कि उनके प्रभु इस प्रश्न पर नाराज नहीं हुए हैं।

स्वामीजी ने कहा, "उसी प्रकार फकीरी करते हुए भ्रमण करना मुझे भी अच्छा लगता है।"

मंगल सिंह ने फिर पूछा, "बाबाजी महाराज, यह जो सब लोग मूर्तिपूजा करते हैं, मेरा उस पर विश्वास नहीं है। तो फिर मेरी क्या गति होगी?"

स्वामीजी ने थोड़ी नाराजगी दिखाते हुए कहा, "कहीं आप हँसी तो नहीं कर रहे हैं?"

मंगल सिंह बोले, "नहीं स्वामीजी, हँसी नहीं कर रहा हूँ। मैं उस काष्ठ-मिट्टी-पाषाण-धातु आदि सब की उपासना नहीं कर सका। तो फिर क्या मेरी सद्गति नहीं होगी?"

स्वामीजी ने उत्तर दिया, "जिसका जैसा विश्वास, उसके लिए वही अच्छा है।"

स्वामीजी का ऐसा उत्तर सुनकर वहाँ उपस्थित अन्य सभी लोग बड़े क्षुब्ध हुए। वे सभी मूर्तिपूजा में दृढ़ विश्वासी तथा कृष्णभक्त थे। उनमें से अनेक लोगों ने अपनी आँखों से स्वामीजी की कृष्णभक्ति तथा एक दिन उन्हें विहारी जी के समक्ष प्रेम विभोर होकर लोटते अश्रुजल प्रवाहित करते भी देखा था। अत: सबके मन में प्रश्न उठा कि उन्होंने ऐसी बात क्यों कही?

इस बीच स्वामीजी ने सामने की दीवाल पर महाराजा का एक चित्र टँगा देखा और एक जन को उतार लाने का आदेश दिया। चित्र को हाथ में लेकर स्वामीजी ने कहा, "अच्छा यह किसका चित्र है?"

रामचन्द्र जी ने कहा, "महाराजा का।"

स्वामीजी ने पुन: रामचन्द्र जी से कहा, "अच्छा, आपको मैं इस पर थूकने का अनुरोध करता हूँ, आप में से कोई भी इस पर थूकिए। क्योंकि देखिए, यह तो केवल एक कागज
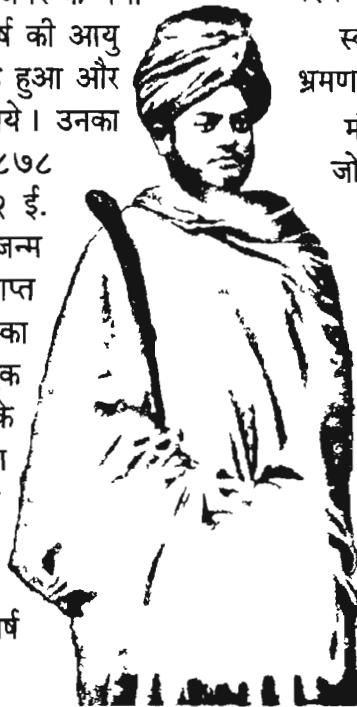
के टुकड़े के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। इस पर आप लोगों को थोड़ा-सा थूकने में क्या आपत्ति है?''

दीवान रामचन्द्र बड़े संकट में पड़े। स्वामीजी की बात पर सब लोग भौंचक्के होकर एक बार महाराजा के मुख की ओर फिर स्वामीजी की ओर देखने लगे। स्वामीजी के चेहरे पर कोई भ्रूक्षेप नहीं था और वे रामचन्द्र को उस चित्र पर थूकने का हठ कर रहे थे।

रामचन्द्र ने विस्मित होकर कहा, ''यह क्या स्वामीजी? यह तो महाराजा का चित्र है! यह आप क्या कहते हैं?''

स्वामीजी ने उत्तर दिया, ''ठीक है, लेकिन महाराजा तो इसके भीतर नहीं हैं। यह तो कागज का एक टुकड़ा मात्र है। इसमें न तो महाराजा का मांस है, न हड्डी और न रक्त, उनका स्वभाव, बातें आदि कुछ भी तो इसमें नहीं है। यह तो एक टुकड़ा कागज भर है और इस पर है महाराज की छाया। इस छायामात्र के कारण आप लोग सोचते हैं कि यदि मैं इस पर थूकूँ, तो इससे आपके मन में कष्ट होगा, इससे महाराजा का अपमान होगा। आप लोगों को लगता है कि इस पर थूकना मानो महाराजा पर ही थूकना होगा, महाराजा का अपमान करना होगा। यही बात है न?''

रामचन्द्र ने गहरी साँस छोड़ते हुए कहा, ''जी हाँ, बात तो यही है!''

अब स्वामीजी महाराजा मंगलसिंह की ओर उन्मुख होकर कहने लगे, ''महाराज, ये लोग आपके भक्त हैं। इस कागज के टुकड़े में आपका हाड़, मांस, रक्त, चमड़ा, हाव-भाव, स्वभाव आदि कुछ भी नहीं है; यह कागज आपके समान आदेश भी जारी नहीं करता। तो भी ये लोग आपके भक्त हैं न, इसलिए इसमें (आपकी) छायामात्र होने के कारण इस कागज के टुकड़े को भी ठीक आपके समान मानते हैं। इसे देखने पर आपकी याद आती है, यहाँ तक कि यह आप ही प्रतीत होते हैं। इसलिए मेरी इस थूकने की इच्छा व्यक्त करने पर ये लोग इतने घबड़ा गए थे। महाराज, इसी प्रकार भक्तगण जो देवी-देवता की पाषाण या धातु की मूर्ति गढ़कर उसकी पूजा करते हैं, वे धातु या पाषाण की पूजा नहीं करते। मैंने इतने स्थानों में घूमकर देखा है, कहीं भी कोई भी, 'हे पाषाण, मैं तुम्हारी पूजा कर रहा हूँ, तुम मेरे प्रति सन्तुष्ट होओ' या हे धातु, 'मैं तुम्हारी पूजा कर रहा हूँ, तुम मुझ पर प्रसन्न होओ' – ऐसा कहकर पूजा करते देखने में नहीं आया। सब उन्हीं चिन्मय ईश्वर की ही पूजा करते हैं, इस धातु या पाषाण की मूर्ति देखने पर, उन्हीं चिन्मय कृष्ण की स्मृति आती है, उसी मूर्ति को देखकर भक्तगण निज-निज इष्ट को मन में लाते हैं और उन्हीं की पूजा करते हैं। तो भी आपने यदि कहीं किसी को पाषाण या धातु को सम्बोधित कर पूजा करते देखा हो, तो फिर मैं नहीं जानता।''

राजा साहब एकाग्र चित्त से ये सारी बातें सुन रहे थे। स्वामीजी का कथन समाप्त हो जाने पर उन्होंने हाथ जोड़कर कहा – ''नहीं स्वामीजी, ऐसा मैंने कभी नहीं देखा। यह सब इतने दिनों तक मैं जरा भी नहीं समझता था। आज आपने ज्ञानचक्षु दिया। तो महाराज, मेरी क्या गति होगी? आप मुझ पर कृपा करें।''

स्वामीजी – ''कृपा तो केवल ईश्वर ही कर सकते हैं और करते भी हैं। उनसे कहिए, उन्हें पुकारिये, वे अवश्य कृपा करेंगे।''

यह कहकर उन्होंने वहाँ से विदा ली। स्वामीजी के चले जाने के बाद राजा थोड़ी देर निस्तब्ध रहे और फिर बोले – ''दीवानजी, ऐसे महात्मा तो कभी देखने में नहीं आए। क्या आप अपने यहाँ कुछ दिन इन्हें रख नहीं सकेंगे?''

दीवानजी ने उत्तर दिया – ''कह नहीं सकता महाराज, बड़े ही तेजस्वी पुरुष हैं। तो भी प्रयास करके देखूँगा।''

दीवान रामचन्द्र के काफी अनुरोध करने पर स्वामीजी ने तीन-चार दिन उनके घर निवास किया था, परन्तु ठहरने के पूर्व ही उन्होंने कह दिया था, ''दीवानजी, जो सब लोग सर्वदा मेरे पास आया करते हैं, वे यदि अबाधित रूप से यहाँ पर आकर मेरे साथ स्वेच्छापूर्वक मिल-जुल सकें, तो आपके यहाँ दो-चार दिन रहने में मुझे कोई आपत्ति नहीं है। परन्तु यदि उन्हें इतला देकर मेरे पास आना पड़े, तो फिर मैं लाचार हूँ, यहाँ नहीं रह सकूँगा।'' दीवान रामचन्द्र के इस पर सहमत होने के बाद ही स्वामीजी वहाँ आए।[१]

स्वामीजी के उपदेशों से अनेक लोगों का जीवन बिल्कुल ही रूपान्तरित हो गया और सभी उनसे इतना प्रेम करने लगे कि अन्यत्र जाने का प्रस्ताव रखने पर बहुतों का मुख सूख गया। वे कहने लगे – ''महाराज, दया करके और कुछ दिन रहिए, आपको छोड़ने की इच्छा नहीं होती।'' स्वामीजी का हृदय पुष्प से भी कोमल था, अत: उनका जाना नहीं हुआ, तथापि इसी प्रकार यहाँ रहते लगभग एक महीना हो गया।

एक वृद्ध प्रतिदिन ही उनसे कृपा पाने की प्रार्थना करते और (इस पर) स्वामीजी कहते, ''कृपा एकमात्र भगवान ही

१. स्वामी विवेकानन्द जी ने १३ मई १८९५ ई. को लंदन से अपने गुरुभाई स्वामी अखण्डानन्द के नाम एक पत्र में लिखा है, ''यज्ञेश्वर बाबू ने एक हिन्दी पत्रिका मुझे भेजी है, उसमें अलवर के पण्डित रा... ने मेरी शिकागो-वक्तृता का हिन्दी अनुवाद किया है।'' (विवेकानन्द साहित्य, खण्ड ४, पृ. ३६०) इस पत्र में उल्लिखित पं. रा... कौन थे? दीवान रामचन्द्र का देहान्त १६ जनवरी, १८९३ ई. को हो चुका था। शायद अलवर में कोई दूसरे पं. रामचन्द्र भी रहे हों या फिर सम्भव है उनका आशय पं. शम्भुनाथ से रहा हो।

कर सकते हैं, मेरी क्या क्षमता है? आप उन्हीं के शरणागत हों।'' वृद्ध को वे जिन समस्त कर्मों का अनुष्ठान करने को कहते, उन्हें न कर वे प्रतिदिन आकर वही एक प्रार्थना करते। एक दिन दूर से आते उन्हें देखकर स्वामीजी बोले, "आज इन्हें विदा करना होगा।'' इतना कहने के बाद वे वहीं स्थिर होकर बैठ गए। इस बीच वे वृद्ध सज्जन आकर उन्हें प्रणाम करके बैठ गए और उनसे अनेक प्रश्न करने लगे; स्वामीजी ने कोई उत्तर नहीं दिया। अन्य अनेक लोग जिस प्रकार उनके साथ वार्तालाप किया करते थे, वैसे ही करने को उन्मुख होकर देखा कि स्वामीजी उत्तर में एक शब्द भी नहीं बोल रहे हैं। बहुत से लोग बात क्या है न समझ पाकर लौट गए। लगभग एक घण्टा बीत गया, स्वामीजी उसी भाव में बैठे हैं वे वृद्ध बीच-बीच में कह रहे हैं, "महाराज, मुझे कुछ कर दीजिए, आपके किए बिना मेरा कुछ न होगा। आप कृपा मेरे लिए करिए बाबाजी।'' स्वामीजी उसी भाव में बैठे रहे, कोई उत्तर नहीं। वे वृद्ध कुछ देर इसी प्रकार करने के बाद हारकर स्वयं नाराज होकर बड़बड़ाते हुए चले गये। वृद्ध के प्रस्थान करते ही स्वामीजी बालक के समान खिलखिलाकर हँस उठे, वहाँ उपस्थित अन्य लोग भी हँसने लगे। उनका यह अद्भुत व्यवहार देखकर एक जन ने पूछा – "बाबाजी, इस बूढ़े के प्रति आपने इतनी कठोरता क्यों दिखाई?''

प्रश्नकर्ता एक युवक था। स्वामीजी ने सस्नेह उससे कहा, "भाई, मैं तुम लोगों के लिए प्राण तक देने को तैयार हूँ। तुम लोग बालक हो, जो कहूँगा, उसे प्राणपण से करने का प्रयास करोगे और उसे पूरा भी कर सकोगे। पर ये लोग वृद्ध हैं, जीवन का पौने सोलह आना हिस्सा संसार का कीट होकर बिताने के बाद, अब मैं उन्हें जो उपदेश दूँगा उसका वे तिलमात्र भी नहीं करेंगे; इनमें पुरुषकार बिल्कुल भी नहीं है? जिसमें उद्यम नहीं, उस पर भी क्या भगवान कृपा करते हैं? अर्जुन अपना उद्यम खोकर कापुरुष हो गए थे, इसीलिए तो श्रीकृष्ण ने गीता कहकर उनका पुरुषार्थ जगाया और स्वधर्म कर्म में नियोजित किया। जिसमें पुरुषार्थ नहीं, वह तमोगुणी है। तमोगुणी से क्या धर्म होता है? उसे पुरुषार्थ का आश्रय लेकर रजोगुणी बनना होगा; स्वधर्म पालन और निष्काम कर्म करते-करते सत्त्वगुणी होने के बाद ही धर्म होता है। जो गृहस्थ स्वधर्म ही नहीं कर पाते, किसी प्रकार के निष्काम कर्म का अनुष्ठान नहीं करते, उनमें निवृत्ति किस प्रकार आएगी? प्रवृत्ति रहे बिना क्या अन्त में निवृत्ति आती है? वह निवृत्ति चाहता है और इधर प्रवृत्ति के किसी भी कार्य का अनुष्ठान करने को तैयार नहीं है, घोर तमोगुणी है। जो चोर बनकर चोरी कर सकता है, उसमें भी पुरुषार्थ है, इसलिए उसमें निवृत्ति भी आती है। वह एक दिन उन दीनानाथ की कृपा भी पाएगा और उसमें ज्ञान का भी उदय होगा।''

संस्कृत-अध्ययन तथा इतिहास-लेखन की आवश्यकता

जो सभी युवक उनके पास सर्वदा आया करते थे, उन सबने स्वामीजी के उपदेशानुसार संस्कृत पढ़ना आरम्भ किया। बीच-बीच में स्वामीजी स्वयं भी उन्हें पढ़ाया करते थे। वे संस्कृत विद्या के साथ ही पाश्चात्य विज्ञान के अभ्यास पर भी बल दिया करते थे। कारण के रूप में वे कहते थे कि इस देश में विज्ञान-सम्मत इतिहास तो बिल्कुल ही नहीं है और अंग्रेजी भाषा जो आधुनिक इतिहास उपलब्ध है, उसमें विशेष रूप से हमारे अध:पतन का चित्र ही अंकित हुआ है। उसे पढ़कर हम लोग और भी निर्बल तथा अध:पतित होते जा रहे हैं। वेद-पुराण आदि शास्त्रों का वैज्ञानिक पद्धति से अनुसन्धान करके हमें वास्तविक इतिहास प्रस्तुत करना होगा। अंग्रेज विद्वानों के प्रयास से जो थोड़ा बहुत शोध हुआ है, वह पक्षपात-दोष से परिपूर्ण है, क्योंकि वे लोग हमारे धर्म, आचार-व्यवहार आदि का कुछ भी न समझते हैं और न मानते हैं। इस कारण वह सारा शोध निरपेक्ष भाव से नहीं हुआ है। उसमें अनेक अतीत विषय भी जुड़ गए हैं। यह सब हम लोगों का कार्य है, हमीं लोगों को करना चाहिए, तभी विशुद्ध भूलरहित इतिहास होने की सम्भावना है। यद्यपि अंग्रेज विद्वानों ने इस विषय में हमारा पथ-प्रदर्शन किया है, परन्तु यदि हम लोग निरपेक्ष भाव से उन सब तत्त्वों के शोध का न प्रयास करके केवल उन्हीं के समान अन्धवत् परिचालित हों, तो इससे हमारे सर्वनाश की ही सम्भावना अधिक है।

"वस्तुत: वैदिक काल से लेकर बुद्धदेव के हजार वर्ष बाद तक का हमारा कोई धारावाहिक इतिहास नहीं मिलता। परन्तु आज विज्ञान की सहायता से कितने ही देशों के लुप्त इतिहास का उद्धार हुआ है और हो रहा है। हमारे उस लुप्त इतिहास के उद्धार में प्रत्येक भारतवासी को प्रयत्नशील होना चाहिए। जैसे किसी के बच्चे का अपहरण हो जाने पर वह ममता एवं अध्यवसाय के साथ उस अपहृत बालक को छुड़ाने के लिए दौड़-धूप करता है, प्रत्येक हिन्दू-सन्तान को भी वैसी ही ममता एवं अध्यवसाय के साथ भारत के उस लुप्त गौरव-चित्र का पुनरुद्धार करना होगा, तभी हमारे लिए राष्ट्रीय शिक्षा पाने का उपाय हो सकेगा और उसी प्रकार की राष्ट्रीय शिक्षा होते रहने से क्रमश: राष्ट्रीयता का विकास होगा।''

स्वामीजी इन युवकों को अपने प्राण के समान प्यार करते थे और ऐसे प्रेरणादायी बातों के द्वारा वे उन्हें संस्कृत भाषा पढ़ने में प्रवृत्त करते थे। उनकी ये सारी बातें भविष्यवाणी प्रतीत होती हैं। ❖ (क्रमश:) ❖

(अगले अंक में वार्तालाप का बाकी अंश)

भारतीयता : एक जीवन-दर्शन

स्वामी आत्मानन्द

'भारतीयता' एक भाववाचक संज्ञा है, जो 'भारत' शब्द से बना है। 'भारत' वह भूखण्ड है, जिस पर भरत ने राज्य किया था और जिसकी सीमा का वर्णन करते हुए वायुपुराण (४५/७५) कहता है – "समुद्र के उत्तर और हिमालय के दक्षिण में जो वर्ष अर्थात् भू-भाग है, वह 'भारत' है, जहाँ भारती प्रजा निवास करती है।" और इस भारती प्रजा की जो विशिष्टता है, उसे 'भारतीयता' कहते हैं। इसे 'भारतीय संस्कृति' के नाम से भी पुकारा जाता है। यह भारतीयता एक जीवन-दर्शन है, जीने की कला है, जो बिना किसी भेद-भाव के समूची मानव-जाति के उपयुक्त है।

प्रत्येक राष्ट्र की अपनी विशिष्टता होती है, जिसके चतुर्दिक उसकी समूची प्राणचेतना स्पन्दित होती रहती है। उस विशिष्टता के रहते राष्ट्र का नाश नहीं हो सकता। यदि किसी कारणवश उसकी विशिष्टता खतरे में पड़ जाय, तो राष्ट्र का अस्तित्व ही जोखिम में पड़ जाता है। राष्ट्र को नष्ट करने के लिए अस्त्र-शस्त्र पर्याप्त नहीं हैं। बम गिराकर किसी देश की इमारतों और कारखानों को तो ध्वस्त किया जा सकता है, पर उसकी विशिष्टता को नहीं। तभी तो दूसरे महायुद्ध ने भौतिक दृष्टि से जर्मनी और जापान को ध्वस्त किया सही, पर वह उनकी जीवनी-शक्ति को खत्म नहीं कर सका। यही कारण है कि उन देशों के ध्वंसावशेषों पर एक नयी जर्मनी, एक नया जापान खड़ा हो गया है, पूर्वापेक्षा अधिक महिमाशाली और गरिमामण्डित होकर। जैसे इंग्लैण्ड की अपनी विशिष्टता है व्यापार-वाणिज्य की उसकी नीति और अमेरिका की, उसकी अपनी राजनीति, वैसे ही **भारत की विशिष्टता है धर्म-अध्यात्म**। यह धर्म और अध्यात्म ही भारत की भारतीयता है। जब तक यह प्राणवान् है, तब तक भारत राष्ट्र विनष्ट नहीं हो सकता। आज जब विश्व के यूनान, रोम, बाबुल, मिस्र जैसे प्राचीन राष्ट्र अपनी विशिष्टता खोकर इतिहास के पन्नों में समा गये हैं, यह भारत अपनी विशिष्टता को कायम रख पुनः विश्व की एक महान् शक्ति के रूप में उभर रहा है। इसका कारण उसकी विशिष्टता की, उसकी जीवनी-शक्ति की अक्षयता है। भले ही विगत कई शताब्दियों में ऐसा प्रतीत हुआ कि भारत भी अन्य राष्ट्रों की भाँति केवल भूगोल के नक्शों में सुरक्षित रह जायेगा, पर उसकी यह जीवनी-शक्ति पूरी तरह मिटी नहीं थी, इसीलिए आज वह फिर से विश्व को अपने जीवन-दर्शन का पाठ पढ़ाने के लिए खड़ा हो रहा है।

प्रत्येक राष्ट्र का अपना एक लक्ष्य होता है। उस लक्ष्य की प्राप्ति के लिए जो उपाय वह तय करता है, उससे उसका जीवन-दर्शन जन्म लेता है। भारत का अत्यन्त प्राचीन काल से लक्ष्य रहा है समूची मानवता का सुख, और इस लक्ष्य की प्राप्ति के लिए उसने जो रास्ता चुना है, वही उसके जीवन-दर्शन का निर्माण करता है। भारत का यह जीवन-दर्शन एक संस्कृत श्लोक में यों व्यक्त हुआ है –

सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामयाः।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद्दुःखभाग्भवेत्॥

– "सभी सुखी हों, सभी निरोग हों, सभी मंगल का अनुभव करें। किसी को भी दुःख का भागी न बनना पड़े।"

इस भाव को भारतीयता का वैशिष्ट्य कहा जा सकता है। यह भारतीयता सबके हित की कामना करती है। उसे तंग दायरे पसन्द नहीं। वह जन्म या परिस्थितियों पर आधारित विशेषाधिकार की नहीं, बल्कि समान मानवीय अधिकारों की समर्थक है। **वह सह-अस्तित्व और सहयोगिता पर विश्वास करती है, द्वेष और प्रतिद्वन्द्विता पर नहीं।**

भारतीय जीवन-दर्शन जीवन को तीन स्तरों में बँटा मानता है – शारीरिक, मानसिक व आध्यात्मिक। वह इन तीन स्तरों को दो भागों में बाँट देता है, जिसमें क्रमशः शरीर और आत्मा की प्रधानता होती है। मन दोनों के साथ मिलकर कार्य करता है। शरीर-प्रधान भाग की उन्नति के साधन को 'अभ्युदय' कहा जाता है और आत्मा-प्रधान भाग की उन्नति के साधन को 'निःश्रेयस्'। **अभ्युदय से भौतिक समृद्धि आती है और निःश्रेयस् हमें आध्यात्मिक कल्याण – मोक्ष – की ओर ले जाता है।** भारतीय जीवन-दर्शन इन दोनों को पक्षी के दो पंख मानता है, जिन्हें समान रूप से सन्तुलित और बली होना चाहिए। एक पंख की तनिक-सी खराबी पक्षी को ठीक-ठीक उड़ने नहीं देती। उसी प्रकार जीवन-रूपी पक्षी एक पंख की तनिक-सी खराबी से फड़फड़ाने लगता है। पश्चिम ने केवल भौतिक उन्नति का पक्ष पकड़ा, इसलिए वह अशान्त और दुःखी है। भारत ने, अपने सन्तुलित जीवन-दर्शन के बावजूद, विगत शताब्दियों में केवल धर्म और अध्यात्म की दुहाई दी और संसार का तिरस्कार किया। इसलिए वह अशान्त और दुःखी है। **सुख और शान्ति तो अभ्युदय और निःश्रेयस् के समान तौल पर निर्भर करती है।** भारतीयता के इस प्राचीन स्वर को आज मुखर करने की अत्यधिक आवश्यकता है।

भारत का यह जीवन-दर्शन जीवन को निष्प्रयोजन या लक्ष्यहीन नहीं मानता। वह घोषणा करता है कि मनुष्य में पशुत्व और देवत्व दोनों हैं, पर आज उसका यह देवत्व सोया हुआ है। यह देवत्व जितनी मात्रा में जाग्रत है, उतनी ही मात्रा में मनुष्य पशुत्व से ऊपर उठता है। **जीवन का लक्ष्य है – इस देवत्व को पूरी तरह से जगा देना।** पशुत्व के दमन से ही मानव का देवत्व जागता है। इसके लिए अपनी अशुभ प्रवृत्तियों से उसे सतत संघर्ष करना पड़ता है। जिन उपायों से वह इस संघर्ष में विजयी हो सकता है, उन्हें 'योग' के नाम से पुकारा जाता है। इस योग पर मानव-मात्र का अधिकार है। धर्म और जाति-वर्ण के भेद का योग से कोई सम्बन्ध नहीं। 'योग' इस सत्य पर बल देता है कि समस्त जीव उसी परमेश्वर के अंश हैं। भारत का वैज्ञानिक दर्शन – वेदान्त – तो घोषणा करता है कि जीव के भीतर वह ईश्वर ही समाया हुआ है। जब जीव शुभ विचारों और शुभ कर्मों के द्वारा अपने चित्त की मलीनता को धो डालता है, तो उसे अपने ईश्वरत्व का बोध होता है। अपने सुप्त देवत्व को जगा लेने का यही तात्पर्य है।

भारत के जीवन-दर्शन ने पुरुष और नारी को एक-दूसरे का परिपूरक माना है। अन्य सस्कृतियों में से किसी ने नारी को पुरुष का खिलौना माना, किसी ने उसे जरखरीद बाँदी का दर्जा दिया, तो किसी ने उसे अपने ऐश और भोग की चीज समझा। पर भारत में दोनों को एक दूसरे की परिपूर्णता के लिए जरूरी माना गया। प्राचीन भारत में जो सुविधाएँ पुरुष को प्राप्त थीं, वे ही नारी को भी उपलब्ध थीं। पुरुष के समान ही नारी को भी वेद पढ़ने और उपनयन संस्कारों द्वारा सुसस्कृत बनने का अधिकार था। उनके लिए अलग गुरुकुल हुआ करती थी। वे अध्यापन-कार्य भी कर सकती थीं। पुरुष के समान वे भी ब्रह्मचर्य-आश्रम में से होकर गृहस्थाश्रम में प्रवेश करती थीं। वे पति के साथ ही वानप्रस्थ-आश्रम की भी अधिकारिणी बनती थीं। भारत के इस स्वस्थ जीवन-दर्शन के कारण हर तरह की विद्या यहाँ की धरा पर फली-फूली और भारत सभी क्षेत्रों में विश्व का गुरु बनकर सही अर्थों में 'जगद्‌गुरु' कहलाया।

भारत के जीवन-दर्शन में सामाजिक सुव्यवस्था की दृष्टि से वर्णों का स्वीकरण तो था, पर शूद्रों के प्रति हेय दृष्टि का सर्वथा अभाव था। वेदों में कितने ही स्थलों पर इसके स्पष्ट संकेत मिलते हैं कि **शुद्र को अस्पृश्य नहीं समझा जाता था और न घृणा का पात्र ही। उसे समाज में सम्मानजनक स्थान प्राप्त था।** विभिन्न वर्णों के लोग सहजता से आपस में रोटी-बेटी का व्यवहार करते थे। ईसा की ११वीं शताब्दी का मुस्लिम यात्री अलबेरुनी अपने 'तहकीकाते हिन्द' में लिखता है कि चारों वर्णों के लोग एक साथ रहते तथा भोजन करते थे।

ऐसा उदात्त और सामासिक जीवन-दर्शन संकीर्णता और अलगाव का शिकार कैसे हो गया, यह अपने आपमें एक विचारणीय प्रश्न है। जब तक हमारी यह संकुचित मनोवृत्ति दूर नहीं होगी, हम भारतीयता के सतेज होने की कल्पना नहीं कर सकते। इस तंगदिली व क्षुद्र दृष्टि को दूर करके हमें भारतीयता की आत्मा को पहचानना है, भारत के जीवन-दर्शन को सही रूप में समझना और ग्रहण करना है। भारतीयता को गतिशील करने का यही उपाय है। और यह हमें करना ही है, क्योंकि आज विश्व सतृष्ण नेत्रों से भारतीय संस्कृति और उसके जीवन-दर्शन की ओर निहार रहा है। विश्व के रंगमंच पर प्रत्येक राष्ट्र की एक विशेष भूमिका होती है। **भारत विश्व को धर्म और अध्यात्म का पाठ पढ़ाने के लिए भेजा गया है।** स्वामी विवेकानन्द भारत की मृत्यु की कल्पना तक नहीं कर सकते। वे कह उठते हैं – ''क्या भारत मृत्यु को प्राप्त होगा? तब तो दुनिया से सारी आध्यात्मिकता चली जायेगी; सारी नैतिकता पूर्णतः नष्ट हो जायेगी; धर्म के प्रति सारी मधुर सहानुभूति लुप्त हो जायेगी; आदर्श के प्रति सारा प्रेम गायब हो जायेगा; और उसके स्थान पर विलासिता और कामरूपी देवी-देवता आधिपत्य कर लेंगे, जहाँ धन पुरोहित होगा, छल-कपट, जोर-जबरदस्ती तथा प्रतियोगिता उसके विधि-अनुष्ठान होंगे और मानवता उसकी बलि होगी। पर ऐसा कभी नहीं हो सकता।''

इस दुर्घटना से बचने के लिए भारतवासियों को प्रबुद्ध करना ही एकमात्र उपाय है। तभी तो स्वामी विवेकानन्द आह्वान करते हुए करते हैं – ''ऐ भारत ! भूलना नहीं कि तुम्हारा विवाह, तुम्हारा धन और तुम्हारा जीवन इन्द्रिय-सुख, अपने व्यक्तिगत सुख के लिए नहीं है; भूलना नहीं कि तुम जन्म से ही 'माता' के लिए बलि-स्वरूप रखे गये हो; भूलना नहीं कि तुम्हारा समाज उस महामाया की छाया-मात्र है; भूलना नहीं कि नीच, अज्ञानी, दरिद्र, चमार और मेहतर तुम्हारे रक्त-मांस हैं, तुम्हारे भाई हैं। ऐ वीर ! साहस का अवलम्बन करो। गर्व से बोलो कि मैं भारतीय हूँ और प्रत्येक भारतवासी मेरा भाई है। तुम चिल्लाकर कहो कि अज्ञानी भारतवासी, दरिद्र भारतवासी, ब्राह्मण भारतवासी, चाण्डाल भारतवासी, सब मेरे भाई हैं। ... गर्व से पुकारकर कहो कि भारतवासी मेरे प्राण हैं, भारत की देव-देवियाँ मेरे ईश्वर हैं, भारत का समाज मेरे बचपन का झूला, जवानी की फुलवारी और बुढ़ापे की काशी है। भाई, बोलो कि भारत की मिट्टी मेरा सर्वोच्च स्वर्ग है और भारत के कल्याण में मेरा कल्याण है।''

भारतवासियों को जाग्रत करने का स्वामी विवेकानन्द का यह आकुल आह्वान अनसुना नहीं जायेगा।

❑❑❑

रामकृष्ण मठ, नागपुर

मात्र दो रुपये ! परन्तु वे दो रुपये महापुरुष स्वामी शिवानन्द जी महाराज ने दान में दिये थे। उन्हीं रुपयों को शिरोधार्य करके जिस संस्था ने अपनी यात्रा आरम्भ की थी, वह आज एक विशाल यज्ञशाला के रूप में विद्यमान है। नागपुर के इस रामकृष्ण मठ में एक सुन्दर मन्दिर, प्रकाशन विभाग, ग्रन्थालय, छात्रावास, चल-चिकित्सालय आदि कर्मयज्ञ संचालित हो रहे हैं। इस मठ ने हाल ही में अपनी प्लैटिनम जुबली मनायी है।

फरवरी, १९२५ ई. की घटना है। श्रीरामकृष्ण के एक लीला-सहचर और रामकृष्ण मठ तथा मिशन के तत्कालीन अध्यक्ष स्वामी शिवानन्द जी महाराज बम्बई गये हुए थे। नागपुर के कुछ भक्तों के हार्दिक अनुरोध पर वहाँ से बेलूड़ मठ लौटते समय वे वहाँ भी पाँच दिन ठहरे थे। धन्तोली के श्री हीरालाल वर्मा के आवास पर उनके ठहरने की व्यवस्था हुई थी।

उनके आगमन से इस क्षेत्र के भक्तों को विशेष आनन्द हुआ और प्रेरणा मिली। श्रीरामकृष्ण विवेकानन्द भावधारा से अनुप्राणित होकर श्री आनन्द मोहन चौधरी नामक एक सज्जन ने कुछ वर्षों पूर्व इस आशा के साथ धन्तोली में एक विशाल भू-खण्ड खरीद रखा था कि आगे चलकर वहीं रामकृष्ण मठ या मिशन की एक शाखा होगी। उस भूमि पर एक छोटा-सा मिट्टी का घर भी तैयार हुआ। स्थानीय भक्तगण बीच-बीच में वहाँ एकत्र होकर ध्यान-जप, पाठ, भजन आदि किया करते थे। वहाँ आकर महापुरुष महाराज ने इन भक्तों की आन्तरिकता देखी और प्रसन्न होकर नागपुर में रामकृष्ण-विवेकानन्द-भावप्रचार के लिये एक स्थायी केन्द्र-स्थापन करने की सहमति दे दी। तदनुसार महाराज के लौट जाने के बाद आनन्द मोहन चौधरी ने १९२५ ई. नवम्बर माह में वह भूखण्ड विधिसम्मत रूप से रामकृष्ण मठ, बेलुड़ को दान कर दिया। दो वर्ष बाद फरवरी, १९२७ में महापुरुष महाराज का पुनः नागपुर-आगमन हुआ। इस बार वे किसी भक्त के घर ठहरने के स्थान पर, लगभग ७ दिन आश्रम हेतु प्राप्त भूमि पर ही एक अस्थायी तम्बू में रहे। उसी दिन उन्होंने भावी आश्रम का शिलान्यास भी किया। पूजा करते समय महाराज दिव्यभाव में मग्न हो गये थे। (१६ फरवरी, १९२७ ई. को जिस स्थान पर उन्होंने श्रीरामकृष्ण की पूजा की थी, उसी स्थान पर सम्प्रति एक विशाल रामकृष्ण मन्दिर निर्माणाधीन है।)

इसी दिन पूज्य महाराज जी ने सुधीश चन्द्र दत्तचौधरी नामक एक युवा वकील को दीक्षा दी थी। बाद में वे संसार त्यागकर (सम्भवतः १९२९ ई. में) रामकृष्ण संघ में सम्मिलित हो गये। संन्यास के बाद उनका नाम हुआ स्वामी निखिलेश्वरानन्द। नागपुर आश्रम के प्रारम्भ से लेकर १९६१ ई. अपने देहावसान तक ये इसी आश्रम में सेवारत रहे।

नागपुर में आश्रम-स्थापना की व्यवस्था लगभग पूर्ण होने पर बेलुड़ मठ के न्यासियों ने स्वामी भास्करेश्वरानन्द जी को वहाँ जाकर कार्य आरम्भ करने का निर्देश दिया। इस पर विस्मित होकर वे महापुरुष महाराज से बोले, "महाराज, मैं हिन्दी नहीं जानता, नागपुर में जाकर कैसे कार्य करूँगा? और वहाँ कौन मेरी सहायता करेगा?" महापुरुष महाराज ने कहा, "कार्य व्यक्तित्व से होता है, रुपयों से नहीं। तुम वहाँ जाकर केवल निवास करो। तुमको कुछ भी नहीं करना होगा। ... सब कुछ ठाकुर स्वयं करेंगे। तुम्हारे पास जो लोग आयेंगे, तुम उन्हें केवल स्नेह-प्रेम प्रदान करना। उन लोगों को ठाकुर के उपदेश सुनाना। अपना जीवन दिखाना। जितना सम्भव हो शास्त्र पढ़ाना। मैं स्पष्ट देख रहा हूँ कि नागपुर में ठाकुर का आश्रम निर्मित हो चुका है।" इतना कहकर उन्होंने अपने सेवक से भास्करेश्वरानन्द जी को दो रुपये दिलवाकर कहा, "इन्हीं दो रुपयों से कार्य प्रारम्भ करो।"

महापुरुष महाराज द्वारा प्रदत्त दो रुपयों से भास्करेश्वरानन्द जी ने होमियोपैथी दवाओं का एक बॉक्स खरीदा और सितम्बर, १९२८ में बेलूड़ मठ से चलकर नागपुर जा पहुँचे। पूर्वोक्त मिट्टी के मकान में ही आश्रम का कार्य शुरू हुआ। उस समय वहाँ मन्दिर, रसोईघर तथा एक होमियोपैथिक डिस्पेंसरी थी। आश्रम का कार्य स्थानीय भक्तों की सहायता से शुरू हुआ। स्वामी भास्करेश्वरानन्द जी नागपुर विश्वविद्यालय के छात्रसंघ, अन्य स्थानीय विद्यालयों और अंचल के विभिन्न स्थानों में भाव-प्रचार के लिये जाने लगे। कभी-कभी वे स्थानीय समाचार पत्रों के लिए रामकृष्ण-विवेकानन्द-विषयक लेख आदि भी लिखते। उनके साधुतापूर्ण व्यक्तित्व, दूसरों के प्रति प्रेम व सहानभूति, आंग्ल भाषा के अगाध ज्ञान और व्याख्यान की शैली से आकृष्ट होकर बहुत-से लोग आश्रम में आने लगे। पूर्वोक्त युवा वकील सुधीश चन्द्र दत्तचौधरी भी इसी समय से आश्रम में सम्मिलित हुए। उन दिनों समाज के जिन गण्यमान्य लोगों ने आश्रम की प्रचुर सहायता

की थी, उनमें उल्लेखनीय हैं नागपुर विश्वविद्यालय के उप-कुलपति सर विनयकृष्ण बोस, वकील श्री पी.एन.रुद्र एवं पटवर्धन हाईस्कूल के प्रधानाचार्य श्री एन.के.बेहरे।

आश्रम का पहला भवन १९३० ई. में निर्मित हुआ। फिर १९३२ ई. में उसकी दूसरी मंजिल के एक छोटे-से कक्ष में ग्रन्थालय की शुरुआत हुई। उसी वर्ष उसी से जुड़े एक हॉल में दो छात्रों को लेकर छात्रावास भी आरम्भ हुआ। फिर १९३४ ई. में भगवान श्रीरामकृष्ण के मन्दिर का निर्माण हुआ। इसके बाद आश्रम का कार्य उत्तरोत्तर बढ़ता गया। स्वामी शिवानन्द जी के देहत्याग के बाद स्वामी अखण्डानन्द जी रामकृष्ण मठ तथा मिशन के तीसरे अध्यक्ष हुए। १९३४ ई. में वे भी दो दिन के लिये नागपुर के मठ में उपस्थित हुये थे। इस प्रकार श्रीरामकृष्ण के दो शिष्यों के पुण्य-पदार्पण से नागपुर का आश्रम धन्य हुआ है।

१९३६ ई. में बड़े धूमधाम के साथ आश्रम में श्रीरामकृष्ण की जन्म-शताब्दी मनायी गयी। इसी समय आश्रम में एक प्रकाशन विभाग का श्रीगणेश हुआ। 'श्रीरामकृष्ण-शिवानन्द-स्मृति-ग्रन्थमाला' के अन्तर्गत हिन्दी तथा मराठी ग्रन्थ प्रकाशित होने लगे। १९४२ ई. में चिकित्सालय, ग्रन्थालय, वाचनालय, प्रकाशन-विभाग और छात्रावास के लिये एक नये भवन का निर्माण हुआ। इसके बाद से छात्रावास में छात्रों की संख्या बढ़ा दी गयी। १९४८ में अलग से एक 'विवेकानन्द-विद्यार्थी-भवन' का निर्माण हुआ। इसमें १९ छात्रों के निवास की व्यवस्था हुई। इसके पूर्व आश्रम में केवल ६ विद्यार्थी ही रहते थे। इस नये भवन की दूसरी मंजिल पर 'शिवानन्द-सभागार' के नाम से एक बड़े हॉल या आडिटोरियम का भी निर्माण हुआ। १९५२ के अन्त में साधु-निवास का भवन बना। १९५४ ई. में आश्रम की रजत-जयन्ती मनायी गयी। तब तक आश्रम में मन्दिर से जुड़ा एक दो-मंजिले भवन (१९३४), एक अन्य दो-मंजिला भवन (१९४२) (जिसमें अभी हाल तक पुस्तक-विक्रय-केन्द्र था) और एक रसोई-घर के साथ जुड़े भोजनालय (१९४४) का निर्माण हुआ था। १९५९ ई. में ५ जनवरी को स्वामी शिवानन्द जी महाराज की जन्मतिथि के दिन ग्रन्थालय तथा वाचनालय सड़क के दूसरी ओर नये भूखण्ड पर नव-निर्मित दो-मंजिले भवन में स्थानन्तरित हो गया। १९३६ ई. में स्वामी विवेकानन्द जी की जन्म-शताब्दी मनायी गयी। १९६५ ई. में 'प्रकाशन-विभाग' तथा उसके द्वारा प्रकाशित मराठी 'जीवन-विकास' मासिक के कार्यालय हेतु एक नया भवन बनाया गया। नागपुर-मठ की गतिविधियों में प्रमुख हैं — चिकित्सा-सेवा, छात्रावास, पुस्तकालय, पुस्तक-प्रकाशन और जीवनदायी विचारों का प्रचार। इन्दोरा मुहल्ले में स्थित मठ का दातव्य चिकित्सालय निर्धनों के बीच कार्यरत है। वहाँ साल में एक लाख से भी अधिक रोगी निःशुल्क चिकित्सा और अल्प व्यय में दवाएँ पाते हैं। १९८६ ई. में मठ का चल-चिकित्सा-केन्द्र शुरू हुआ। यह चिकित्सालय रोज करीब ७० किलोमीटर तक जाता है तथा सप्ताह में ७५ से अधिक गाँवों में चिकित्सा-सुविधा मुहैया करता है। इसके अतिरिक्त मठ में आधुनिक यंत्रों से युक्त एक दातव्य फिजियो-थेरेपी केन्द्र भी है। १९३२ में आरम्भ हुए छात्रावास में वर्तमान में २० छात्र हैं। इसमें एक पाठचक्र भी है, जो वाद-विवाद, भाषण-प्रतियोगिता आदि का आयोजन करता है। इस मठ के पुस्तकालय का अपना भवन है, जिसमें विभिन्न भाषाओं की लगभग ४५,००० पुस्तकें हैं।

एक दिन जब स्वामी भास्करेश्वरानन्द जी महापुरुष महाराज (स्वामी शिवानन्द जी) को नागपुर-मठ में निर्माणाधीन एक भवन का चित्र दिखा रहे थे, तब उन्होंने अपनी दूरदृष्टि के साथ कहा था — बाद में यहाँ से हिन्दी और मराठी पुस्तकें निकलेंगी। उनका यह स्वप्न १९३६ ई. में ठाकुर के जन्म-शताब्दी वर्ष में साकार हुआ। तभी से यह मठ हिन्दी और मराठी में रामकृष्ण-विवेकानन्द तथा अन्य धार्मिक तथा सांस्कृतिक विषयों पर पुस्तकें प्रकाशित करने लगा। १९६३ ई में स्वामीजी की जन्म-शताब्दी-वर्ष में मराठी में १० खण्डों में 'स्वामी विवेकानन्द-ग्रन्थावली' का प्रकाशन हुआ। अब तक यहाँ से हिन्दी में १७३ और मराठी में १७० — इस प्रकार कुल ३४३ ग्रन्थों का प्रकाशन हो चुका है। मार्च १९५७ ई. में श्रीठाकुर के जन्मतिथि के दिन मराठी में 'जीवन-विकास' मासिक का प्रकाशन शुरू हुआ। इस समय इसकी प्रसार-संख्या १०,००० से भी अधिक है। मठ में इन सबके आतिरिक्त, नियमित रूप से पूजा-पाठ, धर्मचर्चा, भजन-कीर्तन आदि भी होते रहते हैं। मठ के संन्यासी-वृन्द आश्रम के बाहर भी अनेक स्थानों पर प्रवचन देने जाते हैं।

२६ फरवरी से ३ मार्च (२००४) तक आश्रम की प्लैटिनम-जयन्ती मनाई गई। इसमें २६ से २८ तक एक त्रिदिवसीय आध्यात्मिक-शिविर लगा, जिसमें श्रीमाँ सारदा देवी के जीवन तथा सन्देश पर विशेष प्रकाश डाला गया। इसमें ६०० भक्तों ने भाग लिया। २७ से २९ तक धर्मसभा हुई। आध्यात्मिक शिविर तथा धर्मसभाओं में चेन्नई-मठ के अध्यक्ष स्वामी गौतमानन्द जी, रायपुर-आश्रम के स्वामी सत्यरूपानन्द जी, इन्दौर-आश्रम के स्वामी विष्णुपादानन्द जी और नारायणपुर आश्रम के स्वामी निखिलात्मानन्द जी ने व्याख्यान दिये। प्रतिदिन लगभग १,००० भक्त उपस्थित थे। विशेष उल्लेखनीय यह है कि इस अवसर पर रामकृष्ण मठ तथा मिशन के वरिष्ठ उपाध्यक्ष स्वामी गहनानन्द जी ने २१३ भक्तों को दीक्षा प्रदान की और २९ तारीख को धर्मसभा के समापन-दिवस पर उन्होंने आशीर्वचन भी कहे। उल्लेखनीय है कि सम्प्रति नागपुर-मठ में श्रीरामकृष्ण के एक विशाल तथा सार्वभौमिक मन्दिर का निर्माण द्रुत वेग से जारी है। ❑❑❑
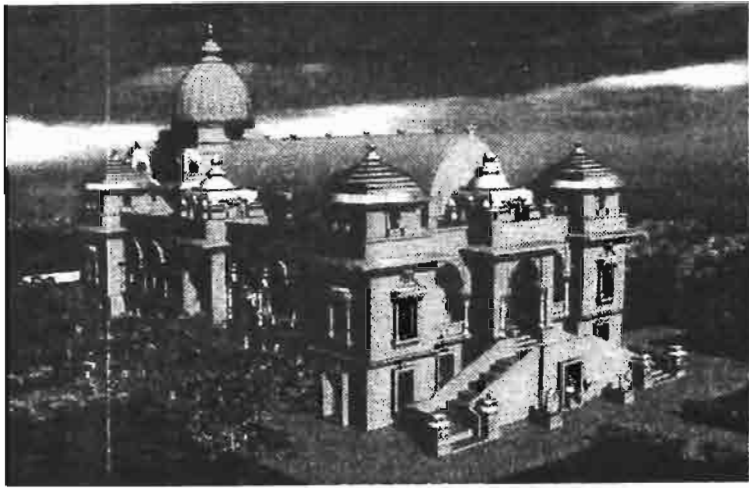
नम्र निवेदन

भगवान् श्रीरामकृष्ण का सार्वजनीन मन्दिर

प्रिय भक्तजन एवं सज्जनो !

स्वामी विवेकानन्द द्वारा संस्थापित रामकृष्ण संघ की एक शाखा, भारतवर्ष के मध्य-भाग में बसे हुए इस नागपुर में भी है। धन्तोली मुहल्ले में स्थित 'रामकृष्ण-मठ' नाम से विख्यात यह संस्था 'शिवज्ञान से जीवसेवा' के आदर्शानुसार विगत ७४ वर्षों से अपनी विभिन्न गतिविधियों के साथ जनता की सेवा में निरत है।

भगवान् श्रीरामकृष्ण का वर्तमान सार्वजनीन मन्दिर तथा उससे संलग्न प्रार्थना-गृह अब जीर्ण-शीर्ण हो चुका है और उसकी दीवारों में दरारें पड़ चुकी है। अब यथाशीघ्र उसके स्थान पर एक नया मन्दिर तथा प्रार्थना-गृह बनाने की आवश्यकता है। इसके अतिरिक्त दिन-दिन भक्तों की संख्या में हो रही वृद्धि के फलस्वरूप भी कुछ समय से प्रार्थना-गृह में स्थान की कमी का बोध किया जा रहा है। अत: हमने पुराने देवालय-भवन के स्थान पर एक नये विशाल मन्दिर तथा प्रार्थना-गृह बनवाने का संकल्प किया है। इस भवन का निर्माण निम्नलिखित विवरण के अनुसार होगा –

मन्दिर की लम्बाई एवं चौड़ाई	**११७'×५८'**
मन्दिर की ऊँचाई	**६७'**
गर्भ-मन्दिर ***(पूजागृह)***	**१८.५'×१८.५'**
उपासना कक्ष *(५०० भक्तों के बैठने के लिये)*	**६७'×४०'**
दोनों ओर के बरामदे	**६७'×५'**
मन्दिर-तलघर एवं सभाभवन	**९१.५'×५१'**

इसके अलावा फीजियोथेरपी यूनिट के ऊपर की मंजिल पर भी निर्माण-कार्य होगा।

इन समस्त निर्माण-कार्यों पर कुल मिलाकर लगभग तीन करोड़ रुपयों का खर्च आयेगा, जिसके लिए यह मठ जन-साधारण से प्राप्त होनेवाले दान पर ही निर्भर है। हमारा आपसे आन्तरिक अनुरोध है कि समग्र मानवता के आध्यात्मिक तथा सर्वांगीण उन्नयन हेतु प्रस्तावित इस योजना के लिए आप उदारतापूर्वक अंशदान करें।

आप सभी पर भगवान श्रीरामकृष्ण, माँ सारदादेवी तथा स्वामी विवेकानन्दजी का आशीर्वाद वर्षित हो – इस प्रार्थना तथा शुभकामनाओं सहित –

कृपया ध्यान दें –

दान की राशि डी.डी./चेक द्वारा रामकृष्ण मठ, नागपुर के नाम पर भेजें। दान की राशि आयकर की धारा ८०-जी के अन्तर्गत आयकर से मुक्त होगी। विदेशी मुद्रा में दिया गया दान भी स्वीकार किया जाएगा।

प्रभु की सेवा में,

स्वामी ब्रह्मस्थानन्द

(स्वामी ब्रह्मस्थानन्द)

अध्यक्ष

रामकृष्ण मठ, धंतोली, नागपुर

रामकृष्ण मठ, धन्तोली, नागपुर-४४० ०१२

फोन : २५२३४२२, २५३२६९० ● फॅक्स : २५३७०४२